॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'सगुण और निर्गुण-उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है?'—इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वश्रेष्ठ योगी बताया। पाँचवें श्लोकमें सगुण और निर्गुण-उपासनाकी तुलना करते हुए भगवान्‌ने कहा कि देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त अर्थात् निर्गुण-तत्त्वकी उपासना कठिन है। यह देहाभिमान-रूपी बाधा दूर कैसे हो—इस विषयका तथा निर्गुण-तत्त्वका विवेचन भगवान्‌ने तेरहवें और चौदहवें अध्यायमें किया।

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीत पुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंके साथ-ही-साथ गुणातीत होनेका उपाय पूछा। इसके उत्तरमें भगवान्‌ने बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण-उपासकोंके लिये 'अव्यभिचारी भक्तियोग' को गुणातीत होनेका उपाय बताया। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का अनन्य भक्त (भगवान्‌पर ही आश्रित और भगवान्‌को ही अपना माननेके कारण) सुगमतापूर्वक गुणातीत भी हो जाता है। इस (छब्बीसवें) श्लोकमें भगवान्‌ने **'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन'** *पदोंसे व्यभिचारदोष-(संसारके आश्रय-) से रहित भक्तियोगका,* **'यः'** *पदसे जीवका और* **'माम्'** *पदसे अपना (परमात्माका) सूक्ष्मरूपसे वर्णन किया। इसलिये इन्हीं तीनों विषयोंका अर्थात् संसार, जीव और परमात्माका विस्तृत विवेचन भगवान् इस (पन्द्रहवें) अध्यायमें करते हैं।*

जीव स्वरूपतः (परमात्माका अंश होनेसे) गुणातीत होनेपर भी अनादि अज्ञानके कारण गुणोंके प्रभावसे प्रभावित होकर गुणोंके कार्यभूत शरीर-(संसार-) में तादात्म्य, ममता और कामना करके आबद्ध हुआ है। जबतक वह गुणोंसे अतीत (विलक्षण) तत्त्व परमात्माके प्रभावको नहीं जानता, तबतक वह प्रकृतिजन्य गुणोंके प्रभावसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् (अपनी प्राप्तिके प्रिय साधन 'अव्यभिचारिणी भक्ति' को प्राप्त कराने हेतु) अपना अत्यन्त गोपनीय और विशेष प्रभाव बतानेके लिये इस (पन्द्रहवें) अध्यायका आरम्भ करते हैं।

जीव परमात्माका अंश है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। अतः इसका एकमात्र सम्बन्ध अपने अंशी परमात्मासे ही है। परन्तु भूलसे यह अपना सम्बन्ध प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे मान लेता है, जिनसे उसका सम्बन्ध वास्तवमें कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको भूलकर शरीरादि विजातीय पदार्थोंको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानना ही व्यभिचार-दोष है। यह व्यभिचार-दोष ही अनन्य भक्तियोगमें खास बाधक है। इस बाधाको दूर करनेके लिये पन्द्रहवें अध्यायके पहले पाँच श्लोकोंके प्रकरणमें भगवान् संसार-वृक्षका वर्णन करके उसका छेदन करनेकी आज्ञा देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥*

---

* ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत्॥ (कठोपनिषद् २। ३। १)

श्रीभगवान् बोले—

ऊर्ध्वमूलम् = ऊपरकी ओर मूलवाले (तथा) **अध:शाखम्** =नीचेकी ओर शाखावाले **अश्वत्थम्** = (जिस) संसाररूप अश्वत्थवृक्षको **अव्ययम्** = (प्रवाहरूपसे) अव्यय **प्राहु:** = कहते हैं (और) **छन्दांसि** = वेद **यस्य** = जिसके **पर्णानि** = पत्ते हैं, **तम्** = उस संसार-वृक्षको **य:** = जो **वेद** = जानता है, **स:** = वह **वेदवित्** = सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है।

व्याख्या—'**ऊर्ध्वमूलमध:शाखम्**'— [तेरहवें अध्यायके आरम्भके दो श्लोकोंकी तरह यहाँ पन्द्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्‌ने अध्यायके सम्पूर्ण विषयोंका दिग्दर्शन कराया है और '**ऊर्ध्वमूलम्**' पदसे परमात्माका, '**अध:शाखम्**' पदसे सम्पूर्ण जीवोंके प्रतिनिधि ब्रह्माजीका तथा '**अश्वत्थम्**' पदसे संसारका संकेत करके (संसाररूप अश्वत्थवृक्षके मूल) सर्वशक्तिमान् परमात्माको यथार्थरूपसे जाननेवालेको '**वेदवित्**' कहा है।]

साधारणतया वृक्षोंका मूल नीचे और शाखाएँ ऊपरकी ओर होती हैं; परन्तु यह संसारवृक्ष ऐसा विचित्र वृक्ष है कि इसका मूल ऊपर तथा शाखाएँ नीचेकी ओर हैं!

जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आता, ऐसा भगवान्‌का परमधाम ही सम्पूर्ण भौतिक संसारसे ऊपर (सर्वोपरि) है। संसारवृक्षकी प्रधान शाखा (तना) ब्रह्माजी हैं; क्योंकि संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माजीका उद्भव होता है। इस कारण ब्रह्माजी ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्मलोक भगवद्धामकी अपेक्षा नीचे है। स्थान, गुण, पद, आयु आदि सभी दृष्टियोंसे परमधामकी अपेक्षा निम्न श्रेणीमें होनेके कारण ही इन्हें '**अध:**' (नीचेकी ओर) कहा गया है।[1]

यह संसाररूपी वृक्ष ऊपरकी ओर मूलवाला है। वृक्षमें मूल ही प्रधान होता है। ऐसे ही इस संसाररूपी वृक्षमें परमात्मा ही प्रधान हैं। उनसे ब्रह्माजी प्रकट होते हैं, जिनका वर्णन '**अध:शाखम्**' पदसे हुआ है।

सबके मूल प्रकाशक और आश्रय परमात्मा ही हैं। देश, काल, भाव, सिद्धान्त, गुण, रूप, विद्या आदि सभी दृष्टियोंसे परमात्मा ही सबसे श्रेष्ठ हैं। उनसे ऊपर अथवा श्रेष्ठकी तो बात ही क्या है, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं है[2] (गीता—ग्यारहवें अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक)। संसारवृक्षके मूल सर्वोपरि परमात्मा हैं। जैसे 'मूल' वृक्षका आधार होता है, ऐसे ही 'परमात्मा' सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं। इसीलिये उस वृक्षको '**ऊर्ध्वमूलम्**' कहा गया है।

'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार परमात्मासे ही हुआ है। वे परमात्मा नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं तथा सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये वे 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको ऊपरकी ओर मूलवाला (ऊर्ध्वमूल) कहते हैं।

वृक्षके मूलसे ही तने, शाखाएँ, कोंपलें निकलती हैं। इसी प्रकार परमात्मासे ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, उन्हींसे विस्तृत होता है और उन्हींमें स्थित रहता है। उन्हींसे शक्ति पाकर सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है[3]। ऐसे सर्वोपरि परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है। (शरण लेनेकी बात आगे चौथे श्लोकमें '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' पदोंमें कही गयी है)।

सृष्टि-रचनाके लिये ब्रह्माजी प्रकृतिको स्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तवमें वे (प्रकृतिसे सम्बन्धरहित होनेके कारण)

१-यहाँ 'अध:शाखम्' पदमें ब्रह्माजीसे लेकर कीटपर्यन्त सभी जीवोंका समावेश है।

२-'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ८)

उस-(परमात्मा-) से बड़ा और उसके समान भी दूसरा नहीं दीखता।

३-जैसे गीतामें कहा है—'अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा' (७। ६), 'प्रभव: प्रलय: स्थानं निधानं बीजमव्ययम्' (९। १८); 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते' (१०। ८); 'यत: प्रवृत्ति: प्रसृता पुराणी' (१५। ४) और 'यत: प्रवृत्तिर्भूतानाम्' (१८। ४६)।

मुक्त हैं। ब्रह्माजीके सिवाय दूसरे सम्पूर्ण जीव प्रकृति और उसके कार्य शरीरादिके साथ अहंता-ममतापूर्वक जितना-जितना अपना सम्बन्ध मानते हैं, उतने-उतने ही वे बन्धनमें पड़े हुए हैं और उनका बार-बार पतन(जन्म-मरण) होता रहता है अर्थात् उतनी ही शाखाएँ नीचेकी ओर फैलती रहती हैं। सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गतियाँ '**अधःशाखम्**' के ही अन्तर्गत हैं (गीता—चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

'**अश्वत्थम्**'—'**अश्वत्थम्**' शब्दके दो अर्थ हैं—(१) जो कल दिनतक भी न रह सके[1] और (२) पीपलका वृक्ष।

पहले अर्थके अनुसार—'**अश्वत्थ**' पदका तात्पर्य यह है कि संसार एक क्षण[2] भी स्थिर रहनेवाला नहीं है। केवल परिवर्तनके समूहका नाम ही संसार है। परिवर्तनका जो नया रूप सामने आता है, उसको उत्पत्ति कहते हैं; थोड़ा और परिवर्तन होनेपर उसको स्थितिरूपसे मान लेते हैं और जब उस स्थितिका स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है, तब उसको समाप्ति (प्रलय) कह देते हैं। वास्तवमें इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते ही नहीं। इसलिये इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होनेके कारण यह (संसार) एक क्षण भी स्थिर नहीं है। दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदर्शनमें जा रहा है। इसी भावसे इस संसारको '**अश्वत्थम्**' कहा गया है।

दूसरे अर्थके अनुसार—यह संसार पीपलका वृक्ष है। शास्त्रोंमें अश्वत्थ अर्थात् पीपलके वृक्षकी बहुत महिमा गायी गयी है। स्वयं भगवान् भी सब वृक्षोंमें 'अश्वत्थ' को अपनी विभूति कहकर उसको श्रेष्ठ एवं पूज्य बताते हैं—'**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्**' (गीता १०। २६)। पीपल, आँवला और तुलसी—इनकी भगवद्भावपूर्वक पूजा करनेसे वह भगवान्की पूजा हो जाती है।

परमात्मासे संसार उत्पन्न होता है। वे ही संसारके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। अतः संसाररूपी पीपलका वृक्ष भी तत्त्वतः परमात्मस्वरूप होनेसे पूजनीय है। इस संसाररूप पीपलवृक्षकी पूजा यही है कि इससे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग करके केवल इसकी सेवा करना। सुखकी इच्छा न रखनेवालेके लिये यह संसार साक्षात् भगवत्स्वरूप है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। परन्तु संसारसे सुखकी इच्छा रखनेवालोंके लिये यह संसार दुःखोंका घर ही है। कारण कि स्वयं अविनाशी है और यह संसारवृक्ष प्रतिक्षण परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभंगुर है। अतः स्वयंकी कभी इससे तृप्ति हो ही नहीं सकती; किंतु इससे सुखकी इच्छा करके यह बार-बार जन्मता-मरता रहता है। इसलिये संसारसे यत्किंचित् भी स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल उसकी सेवा करनेका भाव ही रखना चाहिये।

'**प्राहुरव्ययम्**'—संसारवृक्षको अव्यय कहा जाता है। क्षणभंगुर अनित्य संसारका आदि और अन्त न जान सकनेके कारण, प्रवाहकी निरन्तरता-(नित्यता-)के कारण तथा इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी होनेके कारण ही इसे अव्यय कहते हैं। जिस प्रकार समुद्रका जल सूर्यके तापसे भाप बनकर बादल बनता है। फिर आकाशमें ठण्डक पाकर वही जल बादलसे पुनः जलरूपसे पृथ्वीपर आ जाता है। फिर वही जल नदी-नालेका रूप धारण करके समुद्रमें चला जाता है, पुनः समुद्रका जल बादल बनकर बरसता है—ऐसे घूमते हुए जलके चक्रका कभी भी अन्त नहीं आता। इसी प्रकार इस संसार-चक्रका भी कभी अन्त नहीं आता। यह संसार-चक्र इतनी तेजीसे घूमता (बदलता) है कि चलचित्र-(सिनेमा-)के समान अस्थिर (प्रतिक्षण परिवर्तनशील) होते हुए भी स्थिरकी तरह प्रतीत होता है।

यह संसारवृक्ष अव्यय कहा जाता है। (**प्राहुः**), वास्तवमें यह अव्यय (अविनाशी) है नहीं। अगर यह अव्यय होता तो न तो इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इस-(संसार-)का जैसा स्वरूप कहा जाता है, वैसा उपलब्ध नहीं होता; और न इस-(संसारवृक्ष-) को वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही भगवान् प्रेरणा करते।

'**छन्दांसि यस्य पर्णानि**'—वेद इस संसारवृक्षके पत्ते हैं। यहाँ वेदोंसे तात्पर्य वेदोंके उस अंशसे है, जिसमें सकामकर्मोंके अनुष्ठानोंका वर्णन है[3]। तात्पर्य यह है कि

१-'श्वः' पर्यन्तं न तिष्ठतीति अश्वत्थः'—'श्वस्' अव्यय आनेवाले कलका वाचक है। जो कलतक स्थिर रहे, उसे 'श्वत्थ' तथा जो कलतक स्थिर न रहे, उसे 'अश्वत्थ' कहते हैं।

२-'क्षण' का विवेचन दार्शनिकोंने इस प्रकार किया है—कमलके पत्तेपर सूई मारी जाय तो सूईके दूसरी तरफ निकलनेमें तीन क्षण लगते हैं—पहले क्षणमें स्पर्श, दूसरे क्षणमें छेदन और तीसरे क्षणमें पार निकलना।

३-वेदोंमें सकाम मन्त्रोंकी संख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले मन्त्रोंकी संख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके एवं सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं।

जिस वृक्षमें सुन्दर फूल-पत्ते तो हों, पर फल नहीं हों तो वह वृक्ष अनुपयोगी है; क्योंकि वास्तवमें तृप्ति तो फलसे ही होती है, फूल-पत्तोंकी सजावटसे नहीं। इसी प्रकार सुख-भोग चाहनेवाले सकाम पुरुषको भोग-ऐश्वर्यरूप फूल-पत्तोंसे सम्पन्न यह संसारवृक्ष बाहरसे तो सुन्दर प्रतीत होता है, पर इससे सुख चाहनेके कारण उसको अक्षय सुखरूप तृप्ति अर्थात् महान् आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती।

वेदविहित पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान स्वर्गादि लोकोंकी कामनासे किया जाय तो वह निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ तो है, पर उन कर्मोंसे मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि फलभोगके बाद पुण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं और उसे पुन: संसारमें आना पड़ता है (गीता—नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार सकाम-कर्म और उसका फल—दोनों ही उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। अत: साधकको इन (दोनों) से सर्वथा असंग होकर एकमात्र परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना चाहिये।

पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न होनेवाले तथा वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। पत्तोंसे वृक्ष सुन्दर दीखता है तथा दृढ़ होता है (पत्तोंके हिलनेसे वृक्षका मूल, तना एवं शाखाएँ दृढ़ होती हैं)। वेद भी इस संसारवृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्माजीसे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है। इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है। संसारमें सकाम (काम्य) कर्मोंसे स्वर्गादिमें देव-योनियाँ प्राप्त होती हैं—यह संसारवृक्षका बढ़ना है। स्वर्गादिमें नन्दनवन, सुन्दर विमान, रमणीय अप्सराएँ आदि हैं—यह संसारवृक्षके सौन्दर्यकी प्रतीति है। सकाम-कर्मोंको करते रहनेसे बारम्बार जन्म-मरण होता रहता है—यह संसारवृक्षका दृढ़ होना है।

इन पदोंसे भगवान् यह कहना चाहते हैं कि साधकको सकामभाव, वैदिक सकाम-कर्मानुष्ठानरूप पत्तोंमें न फँसकर संसारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। परमात्माका आश्रय लेनेसे वेदोंका वास्तविक तत्त्व भी जाननेमें आ जाता है। वेदोंका वास्तविक तत्त्व संसार या स्वर्ग नहीं, प्रत्युत परमात्मा ही हैं (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)।[1]

'यस्तं वेद स वेदवित्'—उस संसारवृक्षको जो मनुष्य जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ तात्पर्यको जाननेवाला है। संसारको क्षणभंगुर (अनित्य) जानकर इससे कभी किंचिन्मात्र भी सुखकी आशा न रखना—यही संसारको यथार्थरूपसे जानना है। वास्तवमें संसारको क्षणभंगुर जान लेनेपर सुखभोग हो ही नहीं सकता। सुखभोगके समय संसार क्षणभंगुर नहीं दीखता। जबतक संसारके प्राणी-पदार्थोंको स्थायी मानते रहते हैं, तभीतक सुखभोग, सुखकी आशा और कामना तथा संसारका आश्रय, महत्त्व, विश्वास बना रहता है। जिस समय यह अनुभव हो जाता है कि संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उसी समय उससे सुख लेनेकी इच्छा मिट जाती है और साधक उसके वास्तविक स्वरूपको जानकर (संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख होकर) परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है। परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव होनेमें ही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य है। जो मनुष्य संसारसे विमुख होकर परमात्मतत्त्वसे अपनी अभिन्नता (जो कि वास्तवमें है)-का अनुभव कर लेता है, वही वास्तवमें **'वेदवित्'** है। वेदोंके अध्ययनमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ वेदवेत्ता नहीं। वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसको (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक) परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो गयी है, वही वास्तवमें वेदवेत्ता (वेदोंके तात्पर्यको अनुभवमें लानेवाला) है।

भगवान्ने इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें अपनेको 'वेदवित्' कहा है। यहाँ वे संसारके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषको 'वेदवित्' कहकर उससे अपनी एकता प्रकट करते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-शरीरमें मिले विवेककी इतनी महिमा है कि उससे जीव संसारके यथार्थ तत्त्वको जानकर भगवान्के सदृश वेदवेत्ता बन सकता है[2]!

परमात्माका ही अंश होनेके कारण जीवका एकमात्र वास्तविक सम्बन्ध परमात्मासे है। संसारसे तो इसने भूलसे अपना सम्बन्ध माना है, वास्तवमें है नहीं। विवेकके द्वारा इस भूलको मिटाकर अर्थात् संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करके एकमात्र अपने अंशी परमात्मासे अपनी स्वत:सिद्ध अभिन्नताका अनुभव करनेवाला ही संसारवृक्षके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला है; और उसीको भगवान् यहाँ 'वेदवित्' कहते हैं।

१-'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' (कठोपनिषद् १। २। १५)

'सम्पूर्ण वेद जिस परमपद परमात्माका बारम्बार प्रतिपादन करते हैं।'

२-'मम साधर्म्यमागता:' (गीता १४। २) में भी यही बात कही गयी है।

परिशिष्ट भाव—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों वासुदेवरूप ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्।'** इसीका यहाँ वृक्षरूपसे वर्णन किया गया है।

परिवर्तनशील होनेपर भी संसारको 'अव्यय' कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें निरन्तर परिवर्तन होनेपर भी कुछ व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् अन्त नहीं होता। जैसे समुद्रके ऊपर कितनी लहरें उठती दीखती हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर उसका जल उतना ही रहता है, घटता-बढ़ता नहीं। ऐसे ही निरन्तर परिवर्तन दीखनेपर भी संसार अव्यय ही रहता है। कारण कि परिवर्तनरूप संसार भी परमात्माकी शक्ति 'अपरा प्रकृति' का कार्य होनेसे परमात्माका ही स्वरूप है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परिवर्तनरूप अपरा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है और अपरिवर्तनरूप परा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है। यह संसार उस परमात्माकी ही लहरें हैं। जैसे ऊपरसे लहरें दीखनेपर भी समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है, एक सम, शान्त समुद्र है, ऐसे ही ऊपरसे परिवर्तनशील संसार दीखते हुए भी भीतरसे एक सम, शान्त परमात्मा है! (गीता—तेरहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक) तात्पर्य है कि संसार संसाररूपसे अव्यय नहीं है, प्रत्युत भगवद्रूपसे अव्यय है। संसाररूपसे भगवान्‌की ही झलक दीखती है। साधककी दृष्टि उस झलककी ओर न होकर भगवान्‌की ओर ही होनी चाहिये। झलककी ओर दृष्टि होना अर्थात् उसीको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है।

संसारको 'अव्यय' कहनेका एक आशय यह भी है कि जो इस संसारके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ेगा, उसका वह सम्बन्ध अर्थात् जन्म-मरण भी अव्यय हो जायगा, कभी मिटेगा नहीं, उसका कभी अन्त आयेगा नहीं। लम्बे रास्तेका तो अन्त आ सकता है, पर गोल रास्तेका अन्त कैसे आये? कोल्हूके बैलकी तरह जन्मनेके बाद मरना और मरनेके बाद जन्मना—यह गोल रास्ता है।

संसार 'अव्यय' है; क्योंकि संसारका बीज भी 'अव्यय' है—'**बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने जिस संसारवृक्षका दिग्दर्शन कराया, उसी संसारवृक्षका अब आगेके श्लोकमें अवयवोंसहित विस्तारसे वर्णन करते हैं।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

तस्य	= उस संसार-वृक्षकी	**शाखाः**	= शाखाएँ	**कर्मानुबन्धीनि**	= कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले
गुणप्रवृद्धाः	= गुणों (सत्त्व, रज और तम) के द्वारा बढ़ी हुई (तथा)	**अधः**	= नीचे,	**मूलानि**	= मूल (भी)
विषयप्रवालाः	= विषयरूप कोंपलोंवाली	**च**	= (मध्यमें) और	**अधः**	= नीचे
		ऊर्ध्वम्	= ऊपर (सब जगह)	**च**	= और (ऊपर)
		प्रसृताः	= फैली हुई हैं।	**अनुसन्ततानि**	= (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।
		मनुष्यलोके	= मनुष्यलोकमें		

व्याख्या—'**तस्य शाखा गुणप्रवृद्धाः**'—संसारवृक्षकी मुख्य शाखा ब्रह्मा है। ब्रह्मासे सम्पूर्ण देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है। इसलिये ब्रह्मलोकसे पातालतक जितने भी लोक तथा उनमें रहनेवाले देव, मनुष्य, कीट आदि प्राणी हैं, वे सभी संसारवृक्षकी शाखाएँ हैं। जिस प्रकार जल सींचनेसे वृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जलके संगसे इस संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं। इसीलिये भगवान्‌ने जीवात्माके ऊँच, मध्य और नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण गुणोंका संग ही बताया है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ और चौदहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। सम्पूर्ण सृष्टिमें ऐसा कोई देश, वस्तु, व्यक्ति नहीं, जो प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे रहित हो (गीता—अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक)।

इसलिये गुणोंके सम्बन्धसे ही संसारकी स्थिति है। गुणोंकी अनुभूति गुणोंसे उत्पन्न वृत्तियों तथा पदार्थोंके द्वारा होती है। अतः वृत्तियों तथा पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करानेके लिये ही '**गुणप्रवृद्धाः**' पद देकर भगवान्‌ने यहाँ यह बताया है कि जबतक गुणोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध है, तबतक संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती ही रहेंगी। अतः संसारवृक्षका छेदन करनेके लिये गुणोंका संग किंचिन्मात्र भी नहीं रखना चाहिये; क्योंकि गुणोंका संग रहते हुए संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता।

'**विषयप्रवालाः**'—जिस प्रकार शाखासे निकलनेवाली नयी कोमल पत्तीके डंठलसे लेकर पत्तीके अग्रभागतकको प्रवाल (कोंपल) कहा जाता है, उसी प्रकार गुणोंकी वृत्तियोंसे लेकर दृश्य पदार्थमात्रको यहाँ '**विषयप्रवालाः**' कहा गया है।

वृक्षके मूलसे तना (मुख्य शाखा), तनेसे शाखाएँ और शाखाओंसे कोंपलें फूटती हैं और कोंपलोंसे शाखाएँ आगे बढ़ती हैं। इस संसारवृक्षमें विषय-चिन्तन ही कोंपलें हैं। विषय-चिन्तन तीनों गुणोंसे होता है। जिस प्रकार गुणरूप जलसे संसारवृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जलसे विषयरूप कोंपलें भी बढ़ती हैं। जैसे कोंपलें दीखती हैं, उनमें व्याप्त जल नहीं दीखता, ऐसे ही शब्दादि विषय तो दीखते हैं, पर उनमें गुण नहीं दीखते। अतः विषयोंसे ही गुण जाने जाते हैं।

'**विषयप्रवालाः**' पदका भाव यह प्रतीत होता है कि विषय-चिन्तन करते हुए मनुष्यका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता[१] (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भावका चिन्तन करते हुए शरीरका त्याग करता है, उस-उस भावको ही प्राप्त होता है (गीता—आठवें अध्यायका छठा श्लोक)—यही विषयरूप कोंपलोंका फूटना है।

कोंपलोंकी तरह विषय भी देखनेमें बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिससे मनुष्य उनमें आकर्षित हो जाता है। साधक अपने विवेकसे परिणामपर विचार करते हुए इनको क्षणभंगुर, नाशवान् और दुःखरूप जानकर इन विषयोंका सुगमतापूर्वक त्याग कर सकता है (गीता—पाँचवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। विषयोंमें सौन्दर्य और आकर्षण अपने रागके कारण ही दीखता है, वास्तवमें वे सुन्दर और आकर्षक हैं नहीं। इसलिये विषयोंमें रागका त्याग ही वास्तविक त्याग है। जैसे कोमल कोंपलोंको नष्ट करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही इन विषयोंके त्यागमें भी साधकको कठिनता नहीं माननी चाहिये। मनसे आदर देनेपर ही ये विषयरूप कोंपलें सुन्दर और आकर्षक दीखती हैं, वास्तवमें तो ये विषयुक्त लड्डूके समान ही हैं[२]। इसलिये इस संसारवृक्षका छेदन करनेके लिये भोगबुद्धिपूर्वक विषय-चिन्तन एवं विषयसेवनका सर्वथा त्याग करना आवश्यक है।[३]

'**अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः**'—यहाँ '**च**' पदको मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोक-(इसी श्लोकके '**मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि**' पदों-) का वाचक समझना चाहिये। '**ऊर्ध्वम्**' पदका तात्पर्य ब्रह्मलोक आदिसे है, जिसमें जानेके दो मार्ग हैं—देवयान और पितृयान (जिसका वर्णन आठवें अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें शुक्ल और कृष्ण-मार्गके नामसे हुआ है)। '**अधः**' पदका तात्पर्य नरकोंसे है, जिसके भी दो भेद हैं—योनिविशेष नरक और स्थानविशेष नरक।

इन पदोंसे यह कहा गया है कि ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नीचे, संसारवृक्षकी शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। इसमें मनुष्ययोनिरूप शाखा ही मूल शाखा है; क्योंकि मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंको करनेका अधिकार है। अन्य शाखाएँ भोगयोनियाँ हैं, जिनमें केवल पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगनेका ही अधिकार है। इस मनुष्ययोनिरूप मूल शाखासे मनुष्य नीचे (अधोलोक) तथा ऊपर (ऊर्ध्वलोक)—दोनों ओर जा सकता है; और संसारवृक्षका छेदन करके सबसे ऊर्ध्व (परमात्मा) तक भी जा सकता है।

१-सेवत विषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार॥ (मानस ६। ९२)

२-दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि। विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम्॥

(विवेकचूडामणि ७९)

'दोषमें विषय काले सर्पके विषसे भी अधिक तीव्र हैं; क्योंकि विष तो खानेवालेको ही मारता है, पर विषय आँखसे देखनेवालेको भी नहीं छोड़ते।'

३-मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा। (विवेक० ८४)

'यदि तुझे मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान दूरहीसे त्याग दे।

मनुष्य-शरीरमें ऐसा विवेक है, जिसको महत्त्व देकर जीव परमधामतक पहुँच सकता है और अविवेकपूर्वक विषयोंका सेवन करके नरकोंमें भी जा सकता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥

(मानस ७। १२१। ५)

'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य-लोके'—मनुष्यके अतिरिक्त दूसरी सब भोगयोनियाँ हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए पाप-पुण्योंका फल भोगनेके लिये ही मनुष्यको दूसरी योनियोंमें जाना पड़ता है। नये पाप-पुण्य करनेका अथवा पाप-पुण्यसे रहित होकर मुक्त होनेका अधिकार और अवसर मनुष्य-शरीरमें ही है।

यहाँ **'मूलानि'** पदका तात्पर्य तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूलसे है, वास्तविक ऊर्ध्वमूल परमात्मासे नहीं। 'मैं शरीर हूँ'—ऐसा मानना 'तादात्म्य' है। शरीरादि पदार्थोंको अपना मानना 'ममता' है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—ये तीन प्रकारकी मुख्य कामनाएँ हैं। पुत्र-परिवारकी कामना 'पुत्रैषणा' और धन-सम्पत्तिकी कामना 'वित्तैषणा' है। 'संसारमें मेरा मान-आदर हो जाय', 'मैं बना रहूँ', 'शरीर नीरोग रहे', 'मैं शास्त्रोंका पण्डित बन जाऊँ' आदि अनेक कामनाएँ 'लोकैषणा' के अन्तर्गत हैं। इतना ही नहीं कीर्तिकी कामना मरनेके बाद भी इस रूपमें रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करते रहें; मेरा स्मारक बन जाय; मेरी स्मृतिमें पुस्तकें बन जायँ; लोग मुझे याद करें, आदि। यद्यपि कामनाएँ प्रायः सभी योनियोंमें न्यूनाधिकरूपसे रहती हैं, तथापि वे मनुष्ययोनिमें ही बाँधनेवाली होती हैं*। जब कामनाओंसे प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मोंके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संचित होकर भावी जन्म-मरणके कारण बन जाते हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंका फल इस जन्ममें तथा मरनेके बाद भी अवश्य भोगना पड़ता है (गीता—अठारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। अतः तादात्म्य, ममता और कामनाके रहते हुए कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं छूट सकता।

यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, वहींसे छुटकारा होता है; जैसे—रस्सीकी गाँठ जहाँ लगी है, वहींसे वह खुलती है। मनुष्ययोनिमें ही जीव शुभाशुभ कर्मोंसे बँधता है; अतः मनुष्ययोनिमें ही वह मुक्त हो सकता है।

पहले श्लोकमें आये **'ऊर्ध्वमूलम्'** पदका तात्पर्य है—परमात्मा, जो संसारके रचयिता तथा उसके मूल आधार हैं; और यहाँ **'मूलानि'** पदका तात्पर्य है—तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल, जो संसारमें मनुष्यको बाँधते हैं। साधकको इन (तादात्म्य, ममता और कामनारूप) मूलोंका तो छेदन करना है और ऊर्ध्वमूल परमात्माका आश्रय लेना

*** ये तीन इच्छाएँ (बाँधनेवाली न होनेके कारण) 'कामना' नहीं कहलातीं—(१) भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेमकी कामना, (२) स्वरूपबोधकी कामना और (३) सेवा करनेकी कामना। स्वरूपबोध या परमात्मा (भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेम)-की इच्छा 'कामना' नहीं है; क्योंकि स्वरूप और परमात्मा दोनों ही 'नित्यप्राप्त' तथा 'अपने' हैं। जैसे अपनी जेबसे पैसे निकालना चोरी नहीं कहलाती, ऐसे ही स्वरूप या परमात्मा-(जो अपने तथा अपनेमें हैं-) की इच्छा करना 'कामना' नहीं कहलाती। संसारकी वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेकी इच्छा भी 'कामना' नहीं, प्रत्युत त्याग है; क्योंकि 'कामना' लेनेकी होती है, देनेकी नहीं। तात्पर्य है कि जो वस्तु अपनी तथा अविनाशी है, उसकी इच्छा करना 'आवश्यकता' (भूख) है; और जो वस्तु दूसरेकी तथा नाशवान् है, उसे दूसरेको देनेकी इच्छा करना 'त्याग' है। जैसे शरीरकी भूख मिटानेके लिये भोजनकी इच्छा करना एक प्रकारसे 'कामना' नहीं होती , ऐसे ही 'स्वयं' की भूख मिटानेके लिये परमात्मतत्त्वकी इच्छा करना 'कामना' नहीं होती। कामना नाशवान् जड-वस्तुकी होती है, और आवश्यकता चिन्मय-तत्त्वकी होती है। कामनाकी पूर्ति नहीं होती, प्रत्युत वह बढ़ती ही रहती है, इसलिये उसका त्याग करना है; परन्तु आवश्यकताकी पूर्ति होती है। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये तीन उपाय हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। मनुष्यने सांसारिक नाशवान् चीजोंको अपनी माना है जिससे वह संसारका गुलाम हुआ है। अतः वह सबके हितके उद्देश्यसे उन नाशवान् चीजोंको संसारकी समझकर संसारकी सेवा, हितमें लगा दे, तो उसकी गुलामी (पराधीनता) छूट जायगी और वह स्वतन्त्र हो जायगा—यह कर्मयोग है। परमात्मा तो अपना स्वरूप है। जीव उससे अलग नहीं है। केवल नाशवान् चीजोंसे अपना सम्बन्ध माननेसे वह अपने स्वरूपसे च्युत हुआ है। अतः नाशवान्के सम्बन्धका त्याग कर दें, तो अपने स्वरूपका बोध हो जायगा—यह ज्ञानयोग है। भगवान् अंशी हैं और जीव अंश है, और इनका परस्पर नित्य-सम्बन्ध है। केवल नाशवान् चीजको अपनी माना है, जिससे वह भगवान्से विमुख हुआ है। नाशवान्को अपना न मानकर एकमात्र भगवान्को ही अपना माननेसे वह स्वतः भगवान्के सम्मुख हो जायगा और उसे भगवत्प्रेम प्राप्त हो जायगा—यह भक्तियोग है। तात्पर्य यह है कि नाशवान् चीजको अपनी माननेसे ही यह जीव संसारका गुलाम, अपने स्वरूपसे च्युत और भगवान्से विमुख हुआ है। यदि वह नाशवान् चीजको अपनी न माने (जो कि अपनी नहीं है), तो संसारकी गुलामी छूट जायगी, अपने स्वरूपका बोध हो जायगा और भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी।**

है, जिसका उल्लेख **'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'** पदसे इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें हुआ है।

मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल नीचे और ऊपर सभी लोकों, योनियोंमें व्याप्त हो रहे हैं। पशु-पक्षियोंका भी अपने शरीरसे 'तादात्म्य' रहता है, अपनी सन्तानमें 'ममता' होती है और भूख लगनेपर खानेके लिये अच्छे पदार्थोंकी 'कामना' होती है। ऐसे ही देवताओंमें भी अपने दिव्य शरीरसे 'तादात्म्य', प्राप्त पदार्थोंमें 'ममता' और अप्राप्त भोगोंकी 'कामना' रहती है। इस प्रकार तादात्म्य,ममता और कामनारूप दोष किसी-न-किसी रूपमें ऊँच-नीच सभी योनियोंमें रहते हैं। परन्तु मनुष्ययोनिके सिवाय दूसरी योनियोंमें ये बाँधनेवाले नहीं होते। यद्यपि मनुष्ययोनिके सिवाय देवादि अन्य योनियोंमें भी विवेक रहता है, पर भोगोंकी अधिकता होने तथा भोग भोगनेके लिये ही उन योनियोंमें जानेके कारण उनमें विवेकका उपयोग नहीं हो पाता। इसलिये उन योनियोंमें उपर्युक्त दोषोंसे 'स्वयं' को (विवेकके द्वारा) अलग देखना सम्भव नहीं है। मनुष्ययोनि ही ऐसी है, जिसमें (विवेकके कारण) मनुष्य ऐसा अनुभव कर सकता है कि मैं (स्वरूपसे) तादात्म्य, ममता और कामनारूप दोषोंसे सर्वथा रहित हूँ।

भोगोंके परिणामपर दृष्टि रखनेकी योग्यता भी मनुष्य-शरीरमें ही है। परिणामपर दृष्टि न रखकर भोग भोगनेवाले मनुष्यको पशु कहना भी मानो पशुयोनिकी निन्दा ही करना है; क्योंकि पशु तो अपने कर्मफल भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आ रहा है, पर यह मनुष्य तो निषिद्ध भोग भोगकर पशुयोनिकी तरफ ही जा रहा है।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें संसारवृक्षका जो वर्णन किया गया है, उसका प्रयोजन क्या है—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

अस्य	= इस संसारवृक्षका (जैसा)	**न**	= न तो	**सुविरूढमूलम्**	= दृढ़ मूलोंवाले
		आदिः	= आदि है,		
रूपम्	= रूप (देखनेमें आता है),	**न**	= न	**अश्वत्थम्**	= संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको
		अन्तः	= अन्त है		
तथा	= वैसा	**च**	= और	**दृढेन**	= दृढ़
इह	= यहाँ (विचार करनेपर)	**न**	= न	**असङ्गशस्त्रेण**	= असंगतारूप शस्त्रके द्वारा
		सम्प्रतिष्ठा	= स्थिति ही है।		
न, उपलभ्यते	= मिलता नहीं; (क्योंकि इसका)	**च**	= इसलिये		
		एनम्	= इस	**छित्त्वा**	= काटकर—

व्याख्या—**'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'**—इसी अध्यायके पहले श्लोकमें संसारवृक्षके विषयमें कहा गया है कि लोग इसको अव्यय (अविनाशी) कहते हैं; और शास्त्रोंमें भी वर्णन आता है कि सकाम-अनुष्ठान करनेसे लोक-परलोकमें विशाल भोग प्राप्त होते हैं। ऐसी बातें सुनकर मनुष्यलोक तथा स्वर्गलोकमें सुख, रमणीयता और स्थायीपन मालूम देता है। इसी कारण अज्ञानी मनुष्य काम और भोगके परायण होते हैं और 'इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है'—ऐसा उनका निश्चय हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका बयालीसवाँ और सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। जबतक संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध है, तबतक ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि विवेकवती बुद्धिसे संसारसे अलग होकर अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके देखनेसे उसका जैसा रूप हमने अभी मान रखा है, वैसा उपलब्ध नहीं होता अर्थात् यह नाशवान् और दु:खरूप प्रतीत होता है।

'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा'—किसी वस्तुके आदि, मध्य और अन्तका ज्ञान दो तरहका होता है—देशकृत और कालकृत। इस संसारका कहाँसे आरम्भ है, कहाँ मध्य है और कहाँ इसका अन्त होता है?—इस प्रकारसे संसारके 'देशकृत' आदि, मध्य, अन्तका पता नहीं; और कबसे इसका आरम्भ हुआ है, कबतक यह रहेगा और कब इसका अन्त होगा?—इस प्रकारसे संसारके 'कालकृत' आदि, मध्य, अन्तका भी पता नहीं।

मनुष्य किसी विशाल प्रदर्शनीमें तरह-तरहकी वस्तुओंको देखकर मुग्ध हुआ घूमता रहे, तो वह उस प्रदर्शनीका आदि-अन्त नहीं जान सकता। उस प्रदर्शनीसे बाहर निकलनेपर ही वह उसके आदि-अन्तको जान सकता है। इसी तरह संसारसे सम्बन्ध मानकर भोगोंकी तरफ वृत्ति रखते हुए इस संसारका आदि-अन्त कभी जाननेमें नहीं आ सकता।

मनुष्यके पास संसारके आदि-अन्तका पता लगानेके लिये जो साधन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि) हैं,वे सब संसारके ही अंश हैं। यह नियम है कि कार्य अपने कारणमें विलीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता। जैसे मिट्टीका घड़ा पृथ्वीको अपने भीतर नहीं ला सकता, ऐसे ही व्यष्टि इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि समष्टि संसार और उसके कार्यको अपनी जानकारीमें नहीं ला सकते। अतः संसारसे (मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे भी) अलग होनेपर ही संसारका स्वरूप ('स्वयं' के द्वारा) ठीक-ठीक जाना जा सकता है।

वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता (स्थिति) है ही नहीं। केवल उत्पत्ति और विनाशका क्रममात्र है। संसारका यह उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह ही 'स्थिति' रूपसे प्रतीत होता है। वास्तवमें देखा जाय तो उत्पत्ति भी नहीं है, केवल नाश-ही-नाश है। जिसका स्वरूप एक क्षण भी स्थायी न रहता हो, ऐसे संसारकी प्रतिष्ठा (स्थिति) कैसी? संसारसे अपना माना हुआ सम्बन्ध छोड़ते ही उसका अपने लिये अन्त हो जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप अथवा परमात्मामें स्थिति हो जाती है।

विशेष बात

इस संसारके आदि, मध्य और अन्तका पता आजतक कोई वैज्ञानिक नहीं लगा सका और न ही लगा सकता है। संसारसे सम्बन्ध रखते हुए अथवा सांसारिक भोगोंको भोगते हुए संसारके आदि, मध्य और अन्तको ढूँढ़ना चाहें, तो कोल्हूके बैलकी तरह उम्रभर घूमते रहनेपर भी कुछ हाथ आनेका नहीं।

वास्तवमें इस संसारके आदि, मध्य और अन्तका पता लगानेकी जरूरत भी नहीं है। जरूरत संसारसे अपने माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेकी ही है।

संसार अनादि-सान्त है या अनादि-अनन्त है अथवा प्रतीतिमात्र है, इत्यादि विषयोंपर दार्शनिकोंमें अनेक मतभेद हैं; परन्तु संसारके साथ हमारा सम्बन्ध असत् है, जिसका विच्छेद करना आवश्यक है—इस विषयपर सभी दार्शनिक एकमत हैं।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका सुगम उपाय है—संसारसे प्राप्त (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, सम्पत्ति आदि) सम्पूर्ण सामग्रीको 'अपनी' और 'अपने लिये' न मानते हुए उसको संसारकी ही सेवामें लगा देना।

सांसारिक स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, सम्पत्ति, आयु, नीरोगता आदि कितने ही प्राप्त हो जायँ; यहाँतक कि संसारके समस्त भोग एक ही मनुष्यको मिल जायँ, तो भी उनसे मनुष्यको तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि जीव स्वयं अविनाशी है और सांसारिक भोग नाशवान् हैं। नाशवान्से अविनाशी कैसे तृप्त हो सकता है?

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्'—संसारको **'सुविरूढ-मूलम्'** कहनेका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य, ममता और कामनाके कारण यह संसार (प्रतिष्ठारहित होनेपर भी) दृढ़ मूलोंवाला प्रतीत हो रहा है।

व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया आदिमें राग, ममता होनेसे सांसारिक बन्धन अधिक-से-अधिक दृढ़ होता चला जाता है। जिन पदार्थों, व्यक्तियोंमें राग, ममताका घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है, उनको मनुष्य अपना स्वरूप ही मानने लग जाता है। जैसे, धनमें ममता होनेसे उसकी प्राप्तिमें मनुष्यको बड़ी प्रसन्नता होती है और 'मैं बड़ा धनवान् हूँ'—ऐसा अभिमान हो जाता है। धनके नाशसे वह अपना नाश मानने लग जाता है। लोभ बढ़नेसे धनकी प्राप्तिके लिये वह अन्याय, पाप आदि न करनेलायक काम भी कर बैठता है। फिर इतना लोभ बढ़ जाता है कि उसके भीतर यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि झूठ, कपट, बेईमानी आदिके बिना धन कमाया ही नहीं जा सकता। उसे यह विचार ही नहीं होता कि 'पापसे धन कमाकर मैं यहाँ कितने दिन ठहरूँगा? पापसे कमाया धन तो शरीरके साथ यहीं छूट जायगा; किंतु धनके लिये किये झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि पाप तो मेरे साथ जायँगे*, जिससे परलोकमें मेरी कितनी दुर्गति होगी!' आदि। इतना ही नहीं, वह दूसरोंको भी प्रेरणा करने लग जाता है कि 'धन कमानेके

---

* **धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे नारी गृहद्वारि सुताः श्मशाने। देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥**

'शरीरको छोड़ते समय धन तिजोरीमें पड़ा रह जाता है; पशु जहाँ-तहाँ बँधे रह जाते हैं; स्त्री घरके दरवाजेतक ही साथ देती है; पुत्र श्मशानतक साथ देते हैं तथा शरीर चितातक ही साथ रहता है। उसके बाद परलोकके मार्गमें केवल धर्म ही जीवके साथ जाता है।'

लिये पाप करनेमें कोई खराबी नहीं; यह तो व्यापार है, इसमें झूठ बोलना, ठगना आदि सब उचित है' इत्यादि। इस दुर्भावका होना ही तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूलोंका दृढ़ होना है। इस प्रकारके दूषित भावोंके दृढ़मूल होनेसे मनुष्य वैसा ही बन जाता है (गीता—सत्रहवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

ये तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल अन्त:करणमें इतनी दृढ़तासे जमे हुए हैं कि पढ़ने, सुनने तथा विचार-विवेचन करनेपर भी सर्वथा नष्ट नहीं होते। साधक प्राय: कहा करते हैं कि सत्संग-चर्चा सुनते समय तो इन दोषोंके त्यागकी बात अच्छी और सुगम लगती है; परन्तु व्यवहारमें आनेपर ऐसा होता नहीं। इनको छोड़ना तो चाहते हैं, पर ये छूटते नहीं। इन दोषोंके न छूटनेमें खास कारण है—सांसारिक सुख लेनेकी इच्छा। साधकसे भूल यह होती है कि वह सांसारिक सुख भी लेना चाहता है और साथ ही दोषोंसे भी बचना चाहता है। जैसे लोभी व्यक्ति विषयुक्त लड्डुओंकी मिठासको भी लेना चाहे और साथ ही विषसे भी बचना चाहे! ऐसा कभी सम्भव नहीं है। संसारसे कभी किंचिन्मात्र भी सुखकी आशा न रखनेपर इसका दृढ़मूल स्वत: नष्ट हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि 'तादात्म्य, ममता और कामनाका मिटना बहुत कठिन है'—साधककी यह मान्यता ही इन दोषोंको मिटने नहीं देती। वास्तवमें तो ये स्वत: मिट रहे हैं। किसी भी मनुष्यमें ये दोष सदा नहीं रहते; उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं; किंतु अपनी मान्यताके कारण ये स्थायी दीखते हैं। अत: साधकको चाहिये कि वह इन दोषोंके मिटनेको कभी कठिन न माने।

'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'—भगवान् कहते हैं कि यद्यपि इस संसारवृक्षके अवान्तर मूल बहुत दृढ़ हैं, फिर भी इनको दृढ़ असंगतारूप शस्त्रके द्वारा काटा जा सकता है। किसी भी स्थान, व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदिके प्रति मनमें आकर्षण, सुख-बुद्धिका होना और उनके सम्बन्धसे अपने-आपको बड़ा तथा सुखी मानना; पदार्थोंके प्राप्त होने अथवा संग्रह होनेपर प्रसन्न होना—यही 'संग' कहलाता है। इसका न होना ही असंगता अर्थात् वैराग्य है। वैराग्यके दो प्रकार हैं—(१) साधारण वैराग्य और (२) दृढ़ वैराग्य। दृढ़ वैराग्यको उपरति अथवा 'पर वैराग्य' भी कहते हैं।

वैराग्य-सम्बन्धी विशेष बात

वैराग्यके अनेक रूप हैं, जो इस प्रकार हैं—

पहला वैराग्य धन, मकान, जमीन आदि पदार्थोंसे होता है। इन पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अगर मनमें उनका महत्त्व बना हुआ है और 'मैं त्यागी हूँ'—ऐसा अभिमान है, तो वास्तवमें यह वैराग्य नहीं है। अन्त:करणमें जड-पदार्थोंका किंचिन्मात्र भी महत्त्व और आकर्षण न रहे—यही वैराग्य है।

दूसरा वैराग्य अपने कहलानेवाले माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, भौजाई आदि-(परिवार-)से होता है। उनकी सेवा करने या उनको सुख पहुँचानेके लिये ही उनसे अपना सम्बन्ध मानना चाहिये। अपने सुखके लिये उनसे किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न मानना ही बन्धु-बान्धवोंसे वैराग्य है।

तीसरा और वास्तविक वैराग्य अपने शरीरसे होता है। अगर शरीरसे सम्बन्ध बना हुआ है तो सम्पूर्ण संसारसे सम्बन्ध बना हुआ है; क्योंकि शरीर संसारका ही बीज अथवा अंश है। शरीरसे तादात्म्य न रहना ही शरीरसे वैराग्य है।

तादात्म्य (शरीरके साथ मानी हुई एकता अर्थात् अहंता)-का नाश करनेके लिये साधकको पहले मान, प्रतिष्ठा, पूजा, धन आदिकी कामनाका त्याग करना चाहिये। इनकी कामनाका त्याग करनेपर भी (शरीरके) 'नाम' में ममता रहनेके कारण यश, कीर्ति, बड़ाई आदिकी कामना रह जाती है। इसके कारण मरनेके बाद भी अपने नामकी कीर्ति, अपना स्मारक बननेकी चाह आदि सूक्ष्म कामनाएँ रह जाती हैं। इन सब कामनाओंका नाश करना आवश्यक है। कहीं-कहीं साधकके भीतर दूसरोंकी प्रशंसा सुनकर, दूसरेकी बड़ाई देखकर ईर्ष्याका भाव जाग्रत् हो जाता है। अत: इसका भी नाश करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कामनाओंका नाश करनेके बाद शरीरमें ममता रह जाती है। यह ममताका सम्बन्ध मृत्युके बाद भी बना रहता है। इसी कारण मृत शरीरको जला देनेके बाद भी हड्डियोंको गंगाजीमें डालनेसे जीव-(जिसने शरीरमें ममता की है-)की आगे गति होती है। 'विवेक' (जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष अथवा शरीर-शरीरीकी भिन्नताका ज्ञान) जाग्रत् होनेपर ममताका नाश हो जाता है। कामना और ममता—दोनोंका नाश होनेके बाद तादात्म्य (अहंता) नष्टप्राय हो जाता है अर्थात् बहुत सूक्ष्म रह जाता है। तादात्म्यका अत्यन्ताभाव भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होनेपर होता है।

जब मनुष्य स्वयं यह अनुभव कर लेता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर मेरा नहीं है', तब कामना, ममता और तादात्म्य—तीनों मिट जाते हैं। यही वास्तविक वैराग्य है।

जिसके भीतर दृढ़ वैराग्य है उसके अन्त:करणमें सम्पूर्ण वासनाओंका नाश हो जाता है। अपने स्वरूपसे विजातीय (जड) पदार्थ—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे किंचिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध न मानकर—'सबका कल्याण हो, सब सुखी हों, सब नीरोग हों, कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दु:ख न हो'[1]—इस भावका रहना ही दृढ़ वैराग्यका लक्षण है।

'यह'-(इदम्-) रूपसे जाननेमें आनेवाले स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसहित सम्पूर्ण संसारको जाननेवाला 'मैं' (अहम्) कहलाता है। 'यह' (जाननेमें आनेवाला दृश्य) और 'मैं' (जाननेवाला द्रष्टा) कभी एक नहीं हो सकते—यह नियम है। इस प्रकार संसार और शरीर नष्ट होनेवाले हैं और मैं (स्वयं) अविनाशी है—इस विवेकका आदर करते हुए अपने-आपको संसार और शरीरसे सर्वथा अलग अनुभव करना ही असंग-शस्त्रके द्वारा संसारवृक्षका छेदन करना है। इस विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही संसार दृढ़ मूलोंवाला प्रतीत होता है।

सांसारिक वस्तुओंका अत्यन्ताभाव अर्थात् सर्वथा नाश तो नहीं हो सकता, पर उनमें रागका सर्वथा अभाव हो सकता है। अत: 'छेदन' का तात्पर्य सांसारिक वस्तुओंका नाश करना नहीं, प्रत्युत उनसे अपना राग हटा लेना है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारका अपने लिये सर्वथा अभाव हो जाता है, जिसे 'आत्यन्तिक प्रलय' भी कहते हैं। जो हमारा स्वरूप नहीं है तथा जिसके साथ हमारा वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, उसीका त्याग (छेदन) होता है। हम स्वरूपत: चेतन और अविनाशी हैं एवं संसार जड और विनाशी है; अत: संसारसे हमारा सम्बन्ध अवास्तविक और भूलसे माना हुआ है। स्वरूपसे हम संसारसे असंग ही हैं। पहलेसे ही जो असंग है, वही असंग होता है—यह नियम है। अत: संसारसे हमारी असंगता स्वत:सिद्ध है—इस वास्तविकताको दृढ़तासे मान लेना चाहिये। संसार कितना ही सुविरूढमूल क्यों न हो, उसके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे वह स्वत: कट जाता है; क्योंकि संसारके साथ अपना सम्बन्ध है नहीं, केवल माना हुआ है। अत: संसारके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे उसका छेदन हो जाता है— इसमें साधकको सन्देह नहीं करना चाहिये; चाहे (आरम्भमें) व्यवहारमें ऐसा दिखायी दे या न दे।

जीवने अपनी भूलसे शरीर-संसारसे सम्बन्ध माना था। इसलिये इसका छेदन करनेकी जिम्मेवारी भी जीवपर ही है। अत: भगवान् इसे ही छेदन करनेके लिये कह रहे हैं।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदके कुछ सुगम उपाय

(१) कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखकर संसारसे प्राप्त सामग्रीको संसारकी सेवामें ही लगा देना।

(२) सांसारिक सुख-(भोग और संग्रह-) की कामनाका सर्वथा त्याग करना।

(३) संसारके आश्रयका सर्वथा त्याग करना।

(४) शरीर-संसारसे 'मैं' और 'मेरा'-पनको बिलकुल हटा लेना।

(५) मैं भगवान्‌का हूँ; भगवान् मेरे हैं—इस वास्तविकतापर दृढ़तासे डटे रहना।

(६) मुझे एक परमात्माकी तरफ ही चलना है—ऐसे दृढ़ निश्चय-(व्यवसायात्मिका बुद्धि-) का होना।

(७) शास्त्रविहित अपने-अपने कर्तव्य-कर्मों-(स्वधर्म-) का तत्परतापूर्वक पालन करना[2] (गीता १८। ४५)।

(८) बचपनमें शरीर, पदार्थ, परिस्थिति, विद्या, सामर्थ्य आदि जैसे थे, वैसे अब नहीं हैं अर्थात् वे सब-के-सब बदल गये, पर मैं 'स्वयं' वही हूँ, बदला नहीं—अपने इस अनुभवको महत्त्व देना।

(९) संसारसे माने हुए सम्बन्धका सद्भाव (सत्ताभाव) मिटाना।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने अपने विषयमें कहा है—'**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च**' (गीता १०। २०), '**सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन**' (गीता १०। ३२) और यहाँ संसारके विषयमें कहते हैं—'**नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।**' तात्पर्य है कि भगवान् आदिमें भी हैं, अन्तमें भी हैं और मध्यमें भी हैं; परन्तु संसार न आदिमें है, न अन्तमें है और न मध्यमें ही है; अर्थात् संसार है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भाव:**' (गीता २। १६)। अत: एक

१-सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग् भवेत्॥
२-धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥ (मानस ३। १६। १)

भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है।

'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'—इन पदोंमें आये **'छित्त्वा'** शब्दका अर्थ काटना अथवा नाश (अभाव) करना नहीं है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कारण कि यह संसार-वृक्ष भगवान्‌की अपरा प्रकृति होनेसे अव्यय है। स्वरूप असंग है—**'असंगो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदा० ४। ३। १५)। स्वरूपमें गुणसंग नहीं है। गुणसंगसे ही जन्म-मरण होता है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। अतः स्वरूपकी असंगताका, निर्लिप्तताका, अजरता-अमरताका अनुभव करके उसमें स्थित होना ही संसार-वृक्षका छेदन करना है।

संसार रागके कारण ही दीखता है। जिस वस्तुमें राग होता है, उसी वस्तुकी सत्ता और महत्ता दीखती है। अगर राग न रहे तो संसारकी सत्ता दीखते हुए भी महत्ता नहीं रहती। अतः **'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'** पदोंका तात्पर्य है—संसारके रागको सर्वथा मिटा देना अर्थात् अपने अन्तःकरणमें परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध न मानना, सृष्टिमात्रकी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानना। वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, राग बाधक है। इसलिये अन्य दार्शनिक तो संसारको असत्, सत् आदि अनेक प्रकारसे कहते हैं, पर भगवान् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी बात कहते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे संसारका संसाररूपसे अभाव हो जाता है और वह भगवद्रूपसे दीखने लगता है—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

सम्बन्ध—संसारवृक्षका छेदन करनेके बाद साधकको क्या करना चाहिये—इसका विवेचन आगेके श्लोकमें करते हैं।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

ततः	= उसके बाद	**भूयः**	= फिर	**प्रसृता**	= विस्तारको प्राप्त हुई है,
तत्	= उस	**न, निवर्तन्ति**	= लौटकर संसारमें नहीं आते	**तम्**	= उस
पदम्	= परमपद (परमात्मा)-की	**च**	= और	**आद्यम्**	= आदि
परिमार्गितव्यम्	= खोज करनी चाहिये।	**यतः**	= जिससे	**पुरुषम्**	= पुरुष परमात्माके
यस्मिन्	= जिसको	**पुराणी**	= अनादिकालसे चली आनेवाली	**एव**	= ही
गताः	= प्राप्त हुए मनुष्य	**प्रवृत्तिः**	= (यह) सृष्टि	**प्रपद्ये**	= मैं शरण हूँ।

व्याख्या—**'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'**—भगवान्‌ने पूर्वश्लोकमें **'छित्त्वा'** पदसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी बात कही है। इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी खोज करनेसे पहले संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करना बहुत आवश्यक है। कारण कि परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं, केवल संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवमें बाधा लग रही है। संसारसे सम्बन्ध बना रहनेसे परमात्माकी खोज करनेमें ढिलाई आती है और जप, कीर्तन, स्वाध्याय आदि सब कुछ करनेपर भी विशेष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकको पहले संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेको ही मुख्यता देनी चाहिये।

जीव परमात्माका ही अंश है। संसारसे सम्बन्ध मान लेनेके कारण ही वह अपने अंशी-(परमात्मा-) के नित्य-सम्बन्धको भूल गया है। अतः भूल मिटनेपर 'मैं भगवान्‌का ही हूँ'—इस वास्तविकताकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। इसी बातपर भगवान् कहते हैं कि उस परमपद-(परमात्मा-) से नित्य-सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है। केवल उसकी खोज करनी है।

संसारको अपना माननेसे नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीखने लग जाता है और अप्राप्त संसार प्राप्त दीखने लग जाता है। इसलिये परमपद-(परमात्मा-) को **'तत्'** पदसे लक्ष्य करके भगवान् कहते हैं कि जो परमात्मा नित्यप्राप्त है, उसीकी पूरी तरह खोज करनी है।

खोज उसीकी होती है, जिसका अस्तित्व पहलेसे ही

होता है। परमात्मा अनादि और सर्वत्र परिपूर्ण हैं। अतः यहाँ खोज करनेका मतलब यह नहीं है कि किसी साधन-विशेषके द्वारा परमात्माको ढूँढ़ना है। जो संसार (शरीर, परिवार, धनादि) कभी अपना था नहीं, है नहीं, होगा नहीं उसका आश्रय न लेकर, जो परमात्मा सदासे ही अपने हैं, अपनेमें हैं और अभी हैं, उनका आश्रय लेना ही उनकी खोज करना है।

साधकको साधन-भजन करना तो बहुत आवश्यक है; क्योंकि इसके समान कोई उत्तम काम नहीं है; किंतु 'परमात्मतत्त्वको साधन-भजनके द्वारा प्राप्त कर लेंगे'—ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान बढ़ता है, जो परमात्मप्राप्तिमें बाधक है। परमात्मा कृपासे मिलते हैं। उनको किसी साधनसे खरीदा नहीं जा सकता। साधनसे केवल असाधन-(संसारसे तादात्म्य, ममता और कामनाका सम्बन्ध अथवा परमात्मासे विमुखता-) का नाश होता है, जो अपने द्वारा ही किया हुआ है। अतः साधनका महत्त्व असाधनको मिटानेमें ही समझना चाहिये। असाधनको मिटानेकी सच्ची लगन हो, तो असाधनको मिटानेका बल भी परमात्माकी कृपासे मिलता है।

साधकोंके अन्तःकरणमें प्रायः एक दृढ़ धारणा बनी हुई है कि जैसे उद्योग करनेसे संसारके पदार्थ प्राप्त होते हैं, ऐसे ही साधन करते-करते (अन्तःकरण शुद्ध होनेपर) ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है; क्योंकि परमात्मप्राप्ति किसी भी कर्म (साधन, तपस्यादि)-का फल नहीं है, चाहे वह कर्म कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो। कारण कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कर्मका भी आरम्भ और अन्त होता है; अतः उस कर्मका फल नित्य कैसे होगा? कर्मका फल भी आदि और अन्तवाला होता है। इसलिये नित्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति किसी कर्मसे नहीं होती। वास्तवमें त्याग, तपस्या आदिसे जडता-(संसार और शरीर-) से सम्बन्ध-विच्छेद ही होता है, जो भूलसे माना हुआ है। सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जो तत्त्व सर्वत्र है, सदा है, नित्यप्राप्त है, उसकी अनुभूति हो जाती है—उसकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है।

अर्जुन भी पूरा उपदेश सुननेके बाद अन्तमें कहते हैं—'**स्मृतिर्लब्धा**' (१८। ७३) 'मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है।' यद्यपि विस्मृति भी अनादि है, तथापि वह अन्त होनेवाली है। संसारकी स्मृति और परमात्माकी स्मृतिमें बहुत अन्तर है। संसारकी स्मृतिके बाद विस्मृतिका होना सम्भव है; जैसे—पक्षाघात (लकवा) होनेपर पढ़ी हुई विद्याकी विस्मृति होना सम्भव है। इसके विपरीत परमात्माकी स्मृति एक बार हो जानेपर फिर कभी विस्मृति नहीं होती (गीता—दूसरे अध्यायका बहत्तरवाँ और चौथे अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक); जैसे—पक्षाघात होनेपर अपनी सत्ता ('मैं हूँ')-की विस्मृति नहीं होती। कारण यह है कि संसारके साथ कभी सम्बन्ध होता नहीं और परमात्मासे कभी सम्बन्ध छूटता नहीं।

शरीर, संसारसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—इस तत्त्वका अनुभव करना ही संसारवृक्षका छेदन करना है और मैं परमात्माका अंश हूँ—इस वास्तविकतामें हरदम स्थित रहना ही परमात्माकी खोज करना है। वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वकी अनुभूति हो जाती है।

'**यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः**'—जिसे पहले श्लोकमें '**ऊर्ध्वमूलम्**' पदसे तथा इस श्लोकमें '**आद्यं पुरुषम्**' पदोंसे कहा गया है; और आगे छठे श्लोकमें जिसका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसी परमात्मतत्त्वका निर्देश यहाँ '**यस्मिन्**' पदसे किया गया है।

जैसे जलकी बूँद समुद्रमें मिल जानेके बाद पुनः समुद्रसे अलग नहीं हो सकती, ऐसे ही परमात्माका अंश (जीवात्मा) परमात्माको प्राप्त हो जानेके बाद फिर परमात्मासे अलग नहीं हो सकता अर्थात् पुनः लौटकर संसारमें नहीं आ सकता। ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण प्रकृति अथवा उसके कार्य गुणोंका संग ही है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। अतः जब साधक असंगशस्त्रके द्वारा गुणोंके संगका सर्वथा छेदन (असत्‌के सम्बन्धका सर्वथा त्याग) कर देता है, तब उसका पुनः कहीं जन्म लेनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

'**यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी**'—सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता एक परमात्मा ही हैं। वे ही इस संसारके आश्रय और प्रकाशक हैं। मनुष्य भ्रमवश सांसारिक पदार्थोंमें सुखोंको देखकर संसारकी तरफ आकर्षित हो जाता है और संसारके रचयिता-(परमात्मा-)को भूल जाता है। परमात्माका रचा हुआ संसार भी जब इतना प्रिय लगता है, तब (संसारके रचयिता) परमात्मा कितने प्रिय लगने चाहिये! यद्यपि रची हुई वस्तुमें आकर्षणका होना एक प्रकारसे रचयिताका ही आकर्षण है (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक), तथापि मनुष्य अज्ञानवश

उस आकर्षणमें परमात्माको कारण न मानकर संसारको ही कारण मान लेता है और उसीमें फँस जाता है।

प्राणिमात्रका यह स्वभाव है कि वह उसीका आश्रय लेना चाहता है और उसीकी प्राप्तिमें जीवन लगा देना चाहता है, जिसको वह सबसे बढ़कर मानता है अथवा जिससे उसे कुछ प्राप्त होनेकी आशा रहती है। जैसे संसारमें लोग रुपयोंको प्राप्त करनेमें और उनका संग्रह करनेमें बड़ी तत्परतासे लगते हैं, क्योंकि उनको रुपयोंसे सम्पूर्ण मनचाही वस्तुओंके मिलनेकी आशा रहती है। वे सोचते हैं—'शरीरके निर्वाहकी वस्तुएँ तो रुपयोंसे मिलती ही हैं, अनेक तरहके भोग, ऐश-आरामके साधन भी रुपयोंसे प्राप्त होते हैं। इसलिये रुपये मिलनेपर मैं सुखी हो जाऊँगा तथा लोग मुझे धनी मानकर मेरा बहुत मान-आदर करेंगे।' इस प्रकार रुपयोंको सर्वोपरि मान लेनेपर वे लोभके कारण अन्याय, पापकी भी परवाह नहीं करते। यहाँतक कि वे शरीरके आरामकी भी उपेक्षा करके रुपये कमाने तथा संग्रह करनेमें ही तत्पर रहते हैं। उनकी दृष्टिमें रुपयोंसे बढ़कर कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार जब साधकको यह ज्ञात हो जाता है कि परमात्मासे बढ़कर कुछ भी नहीं है और उनकी प्राप्तिमें ऐसा आनन्द है, जहाँ संसारके सब सुख फीके पड़ जाते हैं (गीता—छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), तब वह परमात्माको ही प्राप्त करनेके लिये तत्परतासे लग जाता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

'**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**'—जिसका कोई आदि नहीं है; किन्तु जो सबका आदि है (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा श्लोक), उस आदिपुरुष परमात्माका ही आश्रय (सहारा) लेना चाहिये। परमात्माके सिवाय अन्य कोई भी आश्रय टिकनेवाला नहीं है। अन्यका आश्रय वास्तवमें आश्रय ही नहीं है, प्रत्युत वह आश्रय लेनेवालेका ही नाश (पतन) करनेवाला है; जैसे—समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिके लिये मगरमच्छका आश्रय! इस मृत्यु-संसार-सागरके सभी आश्रय मगरमच्छके आश्रयकी तरह ही हैं। अत: मनुष्यको विनाशी संसारका आश्रय न लेकर अविनाशी परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये।

जब साधक अपना पूरा बल लगानेपर भी दोषोंको दूर करनेमें सफल नहीं होता, तब वह अपने बलसे स्वत: निराश हो जाता है। ठीक ऐसे समयपर यदि वह (अपने बलसे सर्वथा निराश होकर) एकमात्र भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तो भगवान्‌की कृपाशक्तिसे उसके दोष निश्चितरूपसे नष्ट हो जाते हैं और भगवत्प्राप्ति हो जाती है*। इसलिये साधकको भगवत्प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। भगवान्‌की शरण लेकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाना चाहिये। भगवान्‌के शरण होनेपर उनकी कृपासे विघ्नोंका नाश और भगवत्प्राप्ति—दोनोंकी सिद्धि हो जाती है (गीता—अठारहवें अध्यायका अट्ठावनवाँ और बासठवाँ श्लोक)।

साधकको जैसे संसारके संगका त्याग करना है, ऐसे ही 'असंगता' के संगका भी त्याग करना है। कारण कि असंग होनेके बाद भी साधकमें 'मैं असंग हूँ'—ऐसा सूक्ष्म अहंभाव (परिच्छिन्नता) रह सकता है, जो परमात्माके शरण होनेपर ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है। परमात्माके शरण होनेका तात्पर्य है—अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् (मैं-पन), धन, परिवार, मकान आदि सब-के-सब पदार्थोंको परमात्माके अर्पण कर देना अर्थात् उन पदार्थोंसे अपनापन सर्वथा हटा लेना!

शरणागत भक्तमें दो भाव रहते हैं—'मैं भगवान्‌का हूँ' और 'भगवान् मेरे हैं।' इन दोनोंमें भी 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के लिये हूँ'—यह भाव ज्यादा उत्तम है। कारण कि 'भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं'—इस भावमें अपने लिये भगवान्‌से कुछ चाह रहती है; अत: साधक भगवान्‌से अपनी मनचाही कराना चाहेगा। परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के लिये हूँ'—इस भावमें केवल भगवान्‌की मनचाही होगी। इस प्रकार साधकमें अपने लिये कुछ भी करने और पानेका भाव न रहना ही वास्तवमें अनन्य शरणागति है। इस अनन्य शरणागतिसे उसका भगवान्‌के प्रति वह अनिर्वचनीय और अलौकिक प्रेम जाग्रत् हो जाता है जो क्षति, पूर्ति और निवृत्तिसे रहित है, जिसमें अपने प्रियके मिलनेपर भी तृप्ति नहीं होती और वियोगमें भी अभाव नहीं होता; जो प्रतिक्षण बढ़ता रहता है; जिसमें असीम-अपार आनन्द है, जिससे आनन्ददाता भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है। तत्त्वज्ञान होनेके बाद जो प्रेम प्राप्त होता है, वही प्रेम अनन्य शरणागतिसे भी प्राप्त हो जाता है।

---

* **जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम॥**
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आये आधे नाम।
सुने री मैंने निरबल के बल राम॥

‘**एव**’ पदका तात्पर्य है कि दूसरे सब आश्रयोंका त्याग करके एकमात्र भगवान‍्का ही आश्रय ले। यही भाव गीतामें ‘**मामेव ये प्रपद्यन्ते**’ (७। १४), ‘**तमेव शरणं गच्छ**’ (१८। ६२) और ‘**मामेकं शरणं व्रज**’ (१८। ६६) पदोंमें भी आया है।

‘**प्रपद्ये**’ कहनेका अर्थ है—‘मैं शरण हूँ।’ यहाँ शंका हो सकती है कि भगवान् कैसे कहते हैं कि ‘मैं शरण हूँ’? क्या भगवान् भी किसीके शरण होते हैं? यदि शरण होते हैं तो किसके शरण होते हैं? इसका समाधान यह है कि भगवान् किसीके शरण नहीं होते; क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। केवल लोकशिक्षाके लिये भगवान् साधककी भाषामें बोलकर साधकको यह बताते हैं कि वह ‘मैं शरण हूँ’ ऐसी भावना करे।

‘परमात्मा है’ और ‘मैं (स्वयं) हूँ’—इन दोनोंमें ‘है’ के रूपमें एक ही परमात्मसत्ता विद्यमान है। ‘मैं’ के साथ होनेसे ही ‘है’ का ‘हूँ’ में परिवर्तन हुआ है। यदि ‘मैं’-रूप एकदेशीय स्थितिको सर्वदेशीय ‘है’ में विलीन कर दें, तो ‘है’ ही रह जायगा, ‘हूँ’ नहीं रहेगा। जबतक ‘स्वयं’के साथ बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर आदिका सम्बन्ध मानते हुए ‘हूँ’ बना हुआ है, तबतक व्यभिचार-दोष होनेके कारण अनन्य शरणागति नहीं है।

परमात्माका अंश होनेके कारण जीव वास्तवमें सदा परमात्माके ही आश्रित रहता है; परन्तु परमात्मासे विमुख होनेके बाद (आश्रय लेनेका स्वभाव न छूटनेके कारण) वह भूलसे नाशवान् संसारका आश्रय लेने लगता है, जो कभी टिकता नहीं। अतः वह दुःख पाता रहता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह परमात्मासे अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचानकर एकमात्र परमात्माके शरण हो जाय।

परिशिष्ट भाव—संसार नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है—‘**असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**’ और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, इसलिये उनकी खोज होती है—‘**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्**’। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जिसका पहलेसे अभाव होता है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान होती है। परमात्मा नित्यप्राप्त और स्वतःसिद्ध हैं, इसलिये उनकी खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोज करनेके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जायँ तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो, पर वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं। परमात्माकी खोज गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान है। वास्तवमें परमात्मा खोया नहीं है। संसारमें अपने रागके कारण परमात्माकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। उधर दृष्टि न जाना ही उसका खोना है। तात्पर्य है कि जिस परमात्माको हम चाहते हैं और जिसकी हम खोज करते हैं, वह परमात्मा नित्य-निरन्तर अपनेमें ही मौजूद है! परन्तु संसार अपनेमें नहीं है। जो अपनेमें है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिल जाता है। परन्तु जो अपनेमें नहीं है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिलता नहीं; क्योंकि वास्तवमें उसकी सत्ता ही नहीं है।

परमात्मा कभी अप्राप्त हुए ही नहीं, अप्राप्त हैं ही नहीं, अप्राप्त होना सम्भव ही नहीं। उनकी अप्राप्ति नहीं हुई है, प्रत्युत विस्मृति हुई है। यह विस्मृति अनादि और सान्त (अन्त होनेवाली) है। जैसे दो व्यक्ति आपसमें एक-दूसरेको पहचानते नहीं तो यह अपरिचय कबसे है—इसको कोई बता नहीं सकता। हम संस्कृत भाषाको नहीं जानते तो यह अनजानपना कबसे है—इसको हम बता नहीं सकते। तात्पर्य है कि व्यक्तियोंकी सत्ता, हमारी सत्ता, संस्कृत भाषाकी सत्ता तो पहलेसे ही है, पर उनका परिचय पहलेसे नहीं है। ऐसे ही विस्मृतिके समय भी परमात्माकी सत्ता ज्यों-की-त्यों है। परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं, पर उनकी विस्मृति है अर्थात् उधर दृष्टि नहीं है, उनसे विमुखता है, उनसे अपरिचय है, उनकी अप्राप्तिका वहम है! परमात्माकी खोज करनेपर यह विस्मृति मिट जाती है और उनकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माकी खोज करनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते जाना—‘**असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**।’ छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध न जोड़ना, उसको अस्वीकार करना। अतः संसारके त्यागमें ही परमात्माकी खोज निहित है। श्रीमद्भागवतमें आया है—‘**अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः**’ (१०। १४। २८)।

‘**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**’—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भावरूप स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। ब्रह्मसूत्रमें आया है—‘**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्**’ (१। ३। २)। ‘उस प्रेमस्वरूप भगवान‍्को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है।’ तात्पर्य है कि स्वरूप जिसका अंश है, उस अंशी (परमात्मा)-के प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। स्वरूपमें

निजानन्द (अखण्ड आनन्द) है और अंशीमें परमानन्द (अनन्त आनन्द) है। जो मुक्तिमें नहीं अटकता, उसमें सन्तोष नहीं करता, उसको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८।५४)। इसीलिये भगवान्‌ने संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करने अर्थात् मुक्त होनेके बाद परमात्माकी खोज करके उनकी शरण ग्रहण करनेकी बात कही है।

सम्बन्ध—जो महापुरुष आदिपुरुष परमात्माके शरण होकर परमपदको प्राप्त होते हैं, उनके लक्षणोंका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

निर्मानमोहाः	= जो मान और मोहसे रहित हो गये हैं,	**विनिवृत्तकामाः**	= जो (अपनी दृष्टिसे) सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गये हैं,	**अमूढाः**	= (ऊँची स्थितिवाले) मोहरहित साधक भक्त
जितसङ्गदोषाः	= जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको जीत लिया है,	**सुखदुःखसञ्ज्ञैः**	= जो सुख-दुःख नामवाले	**तत्**	= उस
				अव्ययम्	= अविनाशी
अध्यात्मनित्याः	= जो नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगे हुए हैं,	**द्वन्द्वैः**	= द्वन्द्वोंसे	**पदम्**	= परमपद (परमात्मा)-को
		विमुक्ताः	= मुक्त हो गये हैं, (ऐसे)	**गच्छन्ति**	= प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—'**निर्मानमोहाः**'—शरीरमें मैं-मेरापन होनेसे ही मान, आदर-सत्कारकी इच्छा होती है। शरीरसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही मनुष्य शरीरके मान-आदरको भूलसे स्वयंका मान-आदर मान लेता है और फँस जाता है। जिन भक्तोंका केवल भगवान्‌में ही अपनापन होता है, उनका शरीरमें मैं-मेरापन नहीं रहता; अतः वे शरीरके मान-आदरसे प्रसन्न नहीं होते। एकमात्र भगवान्‌के शरण होनेपर उनका शरीरसे मोह नहीं रहता, फिर मान-आदरकी इच्छा उनमें हो ही कैसे सकती है?

केवल भगवान्‌का ही उद्देश्य, ध्येय होनेसे और केवल भगवान्‌के ही शरण, परायण रहनेसे वे भक्त संसारसे विमुख हो जाते हैं। अतः उनमें संसारका मोह नहीं रहता।

'**जितसंगदोषाः**'—भगवान्‌में आकर्षण होना 'प्रेम' और संसारमें आकर्षण होना 'आसक्ति' कहलाती है। ममता, स्पृहा, वासना, आशा आदि दोष आसक्तिके कारण ही होते हैं। केवल भगवान्‌के ही परायण होनेके कारण भक्तोंकी सांसारिक भोगोंमें आसक्ति नहीं रहती। आसक्ति न रहनेके कारण भक्त आसक्तिसे होनेवाले ममता आदि दोषोंको जीत लेते हैं।

आसक्ति प्राप्त और अप्राप्त—दोनोंकी होती है; किन्तु कामना अप्राप्तकी ही होती है। इसलिये इस श्लोकमें '**विनिवृत्तकामाः**' पद अलगसे आया है।

'**अध्यात्मनित्याः**'—केवल भगवान्‌के ही शरण रहनेसे भक्तोंकी अहंता बदल जाती है। मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है—इस प्रकार अहंता बदलनेसे उनकी स्थिति निरन्तर भगवान्‌में ही रहती है*। कारण कि मनुष्यकी जैसी अहंता होती है, उसकी स्थिति वहाँ ही होती है। जैसे मनुष्य जन्मके अनुसार अपनेको ब्राह्मण मानता है, तो उसकी ब्राह्मणपनकी मान्यता नित्य-निरन्तर रहती है अर्थात् वह नित्य-निरन्तर ब्राह्मणपनमें स्थित रहता है, चाहे याद करे या न करे। ऐसे ही जो भक्त अपना सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ ही मानते हैं, वे नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं।

'**विनिवृत्तकामाः**'—संसारका ध्येय, लक्ष्य रहनेसे ही संसारकी वस्तु, परिस्थिति आदिकी कामना होती है अर्थात् 'अमुक वस्तु, व्यक्ति आदि मुझे मिल जाय'—इस तरह

*** यद्यपि मात्र प्राणियोंकी स्थिति निरन्तर उसी सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वेश्वर भगवान्‌में ही रहती है, तथापि वे भूलसे अपनी स्थिति भगवान्‌में न मानकर संसारमें मान लेते हैं; जैसे—मैं अमुक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, नाम, जाति आदिका हूँ। अपनी इस विपरीत मान्यताके कारण ही वे बँध जाते हैं और बार-बार जन्मते-मरते हैं।**

अप्राप्तकी कामना होती है। परन्तु जिन भक्तोंका सांसारिक वस्तु आदिको प्राप्त करनेका उद्देश्य है ही नहीं, वे कामनाओंसे सर्वथा रहित हो जाते हैं।

शरीरमें ममता होनेसे कामना पैदा हो जाती है कि मेरा शरीर स्वस्थ रहे, बीमार न हो जाय; शरीर हृष्टपुष्ट रहे, कमजोर न हो जाय। इसीसे सांसारिक धन, पदार्थ, मकान आदिकी अनेक कामनाएँ पैदा होती हैं। शरीर आदिमें ममता न रहनेसे भक्तोंकी कामनाएँ मिट जाती हैं।

भक्तोंका यह अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम् (मैं-पन)—ये सभी भगवान्‌के ही हैं। भगवान्‌के सिवाय उनका अपना कुछ होता ही नहीं। ऐसे भक्तोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ विशेष और नि:शेषरूपसे नष्ट हो जाती हैं। इसलिये उन्हें यहाँ '**विनिवृत्तकामाः**' कहा गया है।

विशेष बात

वास्तवमें शरीर आदिका वियोग तो प्रतिक्षण हो ही रहा है। साधकको प्रतिक्षण होनेवाले इस वियोगको स्वीकारमात्र करना है। इन वियुक्त होनेवाले पदार्थोंसे संयोग माननेसे ही कामनाएँ पैदा होती हैं। जन्मसे लेकर आजतक निरन्तर हमारी प्राणशक्ति नष्ट हो रही है और शरीरसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। जब एक दिन शरीर मर जायगा, तब लोग कहेंगे कि आज यह मर गया। वास्तवमें देखा जाय तो शरीर आज नहीं मरा है, प्रत्युत प्रतिक्षण मरनेवाले शरीरका मरना आज समाप्त हुआ है! अत: कामनाओंसे निवृत्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रतिक्षण वियुक्त होनेवाले शरीरादि पदार्थोंको स्थिर मानकर उनसे कभी अपना सम्बन्ध न माने।

वास्तवमें कामनाओंकी पूर्ति कभी होती ही नहीं। जबतक एक कामना पूरी होती हुई दीखती है, तबतक दूसरी अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन कामनाओंमेंसे जब किसी एक कामनाकी पूर्ति होनेपर मनुष्यको सुख प्रतीत होता है, तब वह दूसरी कामनाओंकी पूर्तिके लिये चेष्टा करने लग जाता है। परन्तु यह नियम है कि चाहे कितने ही भोग-पदार्थ मिल जायँ, पर कामनाओंकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। कामनाओंकी पूर्तिके सुखभोगसे नयी-नयी कामनाएँ पैदा होती रहती हैं—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**'। संसारके सम्पूर्ण व्यक्ति, पदार्थ एक साथ मिलकर एक व्यक्तिकी भी कामनाओंकी पूर्ति नहीं कर सकते, फिर सीमित पदार्थोंकी कामना करके सुखकी आशा रखना महान् भूल ही है। कामनाओंके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिल सकती—'**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**' (गीता २। ७०)। अत: कामनाओंकी निवृत्ति ही परम-शान्तिका उपाय है। इसलिये कामनाओंकी निवृत्ति ही करनी चाहिये, न कि पूर्तिकी चेष्टा।

सांसारिक भोग-पदार्थोंके मिलनेसे सुख होता है—यह मान्यता कर लेनेसे ही कामना पैदा होती है। यह कामना जितनी तेज होगी, उस पदार्थके मिलनेमें उतना ही सुख होगा। वास्तवमें कामनाकी पूर्तिसे सुख नहीं होता। जब मनुष्य किसी पदार्थके अभावका दु:ख मानकर कामना करके उस पदार्थका मनसे सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब उस पदार्थके मिलनेपर अर्थात् उस पदार्थका मनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (अभावकी मान्यताका दु:ख मिट जानेपर) सुख प्रतीत होता है। यदि वह पहलेसे ही कामना न करे तो पदार्थके मिलनेपर सुख और न मिलनेपर दु:ख होगा ही नहीं।

मूलमें कामनाकी सत्ता है ही नहीं क्योंकि जब काम्यपदार्थकी ही स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, तब उसकी कामना कैसे रह सकती है? इसलिये सभी साधक निष्काम होनेमें समर्थ हैं।

'**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैः**'—वे भक्त सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाते हैं। कारण कि उनके सामने अनुकूल-प्रतिकूल जो भी परिस्थिति आती है, उसको वे भगवान्‌का ही दिया हुआ प्रसाद मानते हैं। उनकी दृष्टि केवल भगवत्कृपापर ही रहती है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिपर नहीं। अत: 'जो कुछ होता है, वह हमारे प्यारे प्रभुका ही मंगलमय विधान है'—ऐसा भाव होनेसे उनके द्वन्द्व सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं।

भगवान् सबके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९)। उनके द्वारा अपने अंश-(जीवात्मा-) का कभी अहित हो ही नहीं सकता। उनके मंगलमय विधानसे जो भी परिस्थिति हमारे सामने आती है, वह हमारे परमहितके लिये ही होती है। इसलिये भक्त भगवान्‌के विधानमें परम प्रसन्न रहते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान होनेपर भी 'ऐसी परिस्थिति क्यों आ गयी? ऐसी परिस्थिति आती रहे' आदि विकार, द्वन्द्व उनमें नहीं होते।

विशेष बात

द्वन्द्व (राग-द्वेषादि) ही विषमता है, जिनसे सब प्रकारके पाप पैदा होते हैं। अत: विषमताका त्याग करनेके लिये साधकको नाशवान् पदार्थोंके माने हुए महत्त्वको अन्त:करणसे निकाल देना चाहिये। द्वन्द्वके दो भेद हैं—

(१) **स्थूल (व्यावहारिक) द्वन्द्व**—सुख-दु:ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि स्थूल द्वन्द्व हैं। प्राणी सुख, अनुकूलता आदिकी इच्छा तो करते हैं, पर दु:ख, प्रतिकूलता आदिकी इच्छा नहीं करते। यह स्थूल द्वन्द्व मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभीमें देखनेमें आता है।

(२) **सूक्ष्म (आध्यात्मिक) द्वन्द्व**—यद्यपि अपनी उपासना और उपास्यको सर्वश्रेष्ठ मानकर उसको आदर (महत्त्व) देना आवश्यक एवं लाभप्रद है, तथापि दूसरोंकी उपासना और उपास्यको नीचा बताकर उसका खण्डन, निन्दा आदि करना 'सूक्ष्म द्वन्द्व' है जो साधकके लिये हानिकारक है।

वास्तवमें सभी उपासनाओंका एकमात्र उद्देश्य संसार-(जडता-) से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करना है। साधकोंकी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताके अनुसार उपासनाओंमें भिन्नता होती है, जिसका होना उचित भी है। अत: साधकको उपासनाओंकी भिन्नतापर दृष्टि न रखकर 'उद्देश्य'की अभिन्नतापर ही दृष्टि रखनी चाहिये। दूसरेकी उपासनाको न देखकर अपनी उपासनामें तत्परतापूर्वक लगे रहनेसे उपासना-सम्बन्धी 'सूक्ष्म द्वन्द्व' स्वत: मिट जाता है।

गीतामें 'स्थूल द्वन्द्व' को '**मोहकलिलम्**' (२। ५२) और 'सूक्ष्म द्वन्द्व' को '**श्रुतिविप्रतिपन्ना**'* (२। ५३) पदोंसे कहा गया है। साधकके अन्त:करणमें जबतक संसार-(जडता-) का सम्बन्ध या महत्त्व रहता है, तभीतक ये द्वन्द्व रहते हैं। 'स्थूल द्वन्द्व' संसारको विशेषरूपसे सत्ता और महत्ता देता है। अत: 'स्थूल द्वन्द्व' को मिटाना बहुत जरूरी है।

जबतक मूढ़ता रहती है, तभीतक द्वन्द्व रहते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो अपनेमें द्वन्द्व मानना ही मूढ़ता है। राग-द्वेष, सुख-दु:ख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व अन्त:करणमें होते हैं, स्वयं-(अपने स्वरूप-) में नहीं। अन्त:करण जड है और 'स्वयं' चेतन एवं जडका प्रकाशक है। अत: अन्त:करणसे 'स्वयं' का सम्बन्ध है ही नहीं। केवल मान्यतासे ही यह सम्बन्ध प्रतीत होता है।

यह सभीका अनुभव है कि सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंके आनेपर हम तो वही रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि सुख आनेपर हम और होते हैं तथा दु:ख आनेपर और। परन्तु मूढ़तावश इन सुख-दु:खादिसे मिलकर सुखी और दु:खी होने लगते हैं। यदि हम इन आने-जानेवालोंसे न मिलकर अपने स्वरूपमें स्थित (स्वस्थ) रहें, तो सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंसे स्वत: रहित हो जायँगे। इसलिये साधकको बदलनेवाली अर्थात् आने-जानेवाली अवस्थाओं-(सुख-दु:ख, हर्ष-शोकादि-) पर दृष्टि न रखकर कभी न बदलनेवाले अपने स्वरूपपर ही दृष्टि रखनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंसे अतीत है।

गीतामें भगवान्ने राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त होनेका बड़ा सुगम उपाय बताया है कि अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष छिपे हुए हैं। उनसे बचनेके लिये साधकको केवल इतनी सावधानी रखनी है कि वह इनके वशमें न हो (गीता—तीसरे अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष दीखनेपर भी साधक इनके वशीभूत होकर तदनुसार क्रिया न करे; क्योंकि क्रिया करनेसे ही ये पुष्ट होते हैं।

'गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत्'—आने-जानेवाले पदार्थोंको प्राप्त करनेकी इच्छा या चेष्टा करना तथा उनसे सुखी-दु:खी होना 'मूढ़ता' है। वास्तवमें संसार निरन्तर परिवर्तनशील है और परमात्मा नित्य रहनेवाला है। परमात्माकी सत्तासे ही संसारकी सत्ता दीखती है। परन्तु अविनाशी परमात्मा और विनाशी संसारकी सत्ताको मिलाकर 'संसार है' ऐसा मान लेना 'मूढ़ता' है।

जिस प्रकार मूढ़ (अज्ञानी) मनुष्योंको 'संसार है' ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है, उसी प्रकार अमूढ़ (मोहरहित) भक्तोंको 'परमात्मा है' ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है। संसार जैसा दिखायी देता है, वैसा ही है—इस प्रकार संसारको स्थायी मान लेना 'मूढ़ता' (मोह) है। जिनकी यह मूढ़ता चली गयी, उन भक्तोंको यहाँ '**अमूढा:**' कहा गया है। मूढ़ता चले जानेके बाद सुख-दु:खका असर नहीं पड़ता। जिसपर सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वोंका असर नहीं पड़ता, वह

*** 'श्रुतिविप्रतिपन्न' का अर्थ है—शास्त्रोंमें ज्ञान, कर्म और भक्ति; द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्त; विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि उपास्यदेव; सकाम और निष्कामभाव इत्यादि भिन्न-भिन्न विचारोंको देखकर किसी एक विचारपर अपना निश्चय या निर्णय नहीं कर सकना अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाना।**

मुक्तिका पात्र होता है (गीता—दूसरे अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। इसीलिये इस श्लोकमें भगवान्‌ने दो बार मूढ़ताके त्यागकी बात (**'निर्मानमोहाः'** और **'अमूढाः'**) कहकर मूढ़ताके त्यागपर विशेष जोर दिया है।

मूढ़ता अर्थात् मोह दो प्रकारका होता है—(१) परमात्माकी ओर न लगकर संसारमें ही लग जाना और (२) परमात्माको ठीक तरहसे न जानना। इस श्लोकमें पहले **'निर्मानमोहाः'** पदसे संसारका मोह चले जानेकी बात कही है और यहाँ **'अमूढाः'*** पदसे परमात्माको ठीक तरहसे जान लेनेकी बात कही है।

जिस परमात्माको इसी अध्यायके पहले श्लोकमें **'ऊर्ध्वमूलम्'** पदसे कहा गया तथा जिस परमपदरूप परमात्माकी खोज करनेके लिये चौथे श्लोकमें प्रेरणा की गयी और आगे छठे श्लोकमें जिसकी महिमाका वर्णन किया गया है, उसी परमात्मरूप परमपदको यहाँ **'अव्ययम् पदम्'** कहा है। जो ऊँची स्थितिके साधक भक्त मान, मोह, ममता आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हो जाते हैं, वे उस अविनाशी परमपदको अवश्य प्राप्त होते हैं, जिसको प्राप्त कर लेनेपर मनुष्य लौटकर नाशवान् संसारमें नहीं आता।

वास्तवमें तो मनुष्यमात्र उस पदको स्वतः प्राप्त है, पर उधर दृष्टि न रहनेसे उसको वैसा अनुभव नहीं होता। इसे एक उदाहरणसे समझना चाहिये। हम रेलगाड़ीसे यात्रा कर रहे हैं। हमारी गाड़ी एक स्टेशनपर रुक जाती है। हमारी गाड़ीके पास (दूसरी पटरीपर) खड़ी हुई दूसरी गाड़ी सहसा चलने लगती है। उस समय (उस चलती हुई गाड़ीपर दृष्टि रहनेसे) भ्रमसे हमें अपनी गाड़ी चलती हुई दीखने लगती है। परन्तु जब हम वहाँसे अपनी दृष्टि हटाकर स्टेशनकी तरफ देखते हैं, तब पता लगता है कि हमारी गाड़ी तो ज्यों-की-त्यों (अपने स्थानपर) खड़ी हुई है। इसी प्रकार संसारसे सम्बन्ध होनेपर मनुष्य अपनेको संसारकी तरह क्रियाशील (आने-जानेवाला) देखने लगता है। पर जब वह संसारसे दृष्टि हटाकर अपने स्वरूपको देखता है, तो उसको पता लगता है कि मैं स्वयं तो ज्यों-का-त्यों ही हूँ।

परिशिष्ट भाव—ज्ञानयोग और कर्मयोगके अन्तर्गत भक्ति नहीं आती, पर भक्तिके अन्तर्गत ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आ जाते हैं (गीता—दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)। इसलिये यहाँ **'अध्यात्मनित्याः'** पदसे ज्ञानयोग और **'विनिवृत्तकामाः'** पदसे कर्मयोग ले सकते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित जिस अविनाशी पदको भक्तलोग प्राप्त होते हैं, वह अविनाशी पद कैसा है—इसका भगवान् विवेचन करते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

तत्	= उस (परमपद)-को	**पावकः**	= अग्नि ही	**न, निवर्तन्ते**	= लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
न	= न	**भासयते**	= प्रकाशित कर सकती है (और)	**तत्**	= वही
सूर्यः	= सूर्य,	**यत्**	= जिसको	**मम**	= मेरा
न	= न	**गत्वा**	= प्राप्त होकर (जीव)	**परमम्**	= परम
शशाङ्कः	= चन्द्र (और)			**धाम**	= धाम है।
न	= न				

व्याख्या—[छठा श्लोक पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेवाला है। इन श्लोकोंमें भगवान् यह बताते हैं कि वह अविनाशी पद मेरा ही धाम है, जो मेरेसे अभिन्न है और जीव भी मेरा अंश होनेके कारण मेरेसे अभिन्न है। अतः जीवकी भी उस धाम-(अविनाशी पद-) से अभिन्नता है अर्थात् वह उस धामको नित्यप्राप्त है।

*जैसे निर्गुण तत्त्वको जाननेवाला अमूढ़ (मोहरहित) हो जाता है (पाँचवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), ऐसे ही सगुण-साकारको दृढ़तापूर्वक माननेवाला भी अमूढ़ हो जाता है (दसवें अध्यायका तीसरा और पन्द्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

यद्यपि इस छठे श्लोकका बारहवें श्लोकसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि पाँचवें और सातवें श्लोकोंको जोड़नेके लिये इसको यहाँ दिया गया है। इस श्लोकमें भगवान्‌ने दो खास बातें बतायी हैं—(१) उस धामको सूर्यादि प्रकाशित नहीं कर सकते (जिसका कारणरूपसे विवेचन भगवान्‌ने इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें किया है) और (२) उस धामको प्राप्त हुए जीव पुनः लौटकर संसारमें नहीं आते (जिसका कारणरूपसे विवेचन भगवान्‌ने इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें किया है)।]

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः'— दृश्य जगत्‌में सूर्यके समान तेजस्वी, प्रकाशस्वरूप कोई चीज नहीं है। वह सूर्य भी उस परमधामको प्रकाशित करनेमें असमर्थ है; फिर सूर्यसे प्रकाशित होनेवाले चन्द्र और अग्नि उसे प्रकाशित कर ही कैसे सकते हैं! इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान् स्पष्ट कहेंगे कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मेरा ही तेज है। मेरेसे ही प्रकाश पाकर ये भौतिक जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। अतः जो उस परमात्मतत्त्वसे प्रकाश पाते हैं, उनके द्वारा परमात्मस्वरूप परमधाम कैसे प्रकाशित हो सकता है?* तात्पर्य यह है कि परमात्मतत्त्व चेतन है और सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि जड (प्राकृत) हैं। ये सूर्य, चन्द्र और अग्नि क्रमशः नेत्र, मन और वाणीको प्रकाशित करते हैं। ये तीनों (नेत्र, मन और वाणी) भी जड ही हैं। इसलिये नेत्रोंसे उस परमात्मतत्त्वको देखा नहीं जा सकता, मनसे उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता और वाणीसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि जड तत्त्वसे चेतन परमात्मतत्त्वकी अनुभूति नहीं हो सकती। वह चेतन (प्रकाशक) तत्त्व इन सभी प्रकाशित पदार्थोंमें सदा परिपूर्ण है। उस तत्त्वमें अपनी प्रकाशकताका अभिमान नहीं है।

चेतन जीवात्मा भी परमात्माका ही अंश होनेके कारण 'स्वयं प्रकाशस्वरूप' है; अतः उसको भी जड पदार्थ (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि) प्रकाशित नहीं कर सकते। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जड-पदार्थोंका उपयोग (भगवान्‌के नाते दूसरोंकी सेवा करके) केवल जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें ही है।

एक बात ध्यान देनेकी है कि यहाँ सूर्यको 'भगवान्' या 'देव' की दृष्टिसे न देखकर केवल प्रकाश करनेवाले पदार्थोंकी दृष्टिसे देखा गया है। तात्पर्य है कि सूर्य तैजस-तत्त्वोंमें श्रेष्ठ है; अतः यहाँ केवल सूर्यकी बात नहीं, प्रत्युत चन्द्र आदि सभी तैजस-तत्त्वोंकी बात चल रही है। जैसे, दसवें अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'वृष्णिवंशियोंमें मैं वासुदेव हूँ', तो वहाँ 'वासुदेव'का भगवान्‌के रूपसे वर्णन नहीं, प्रत्युत वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुषके रूपसे ही वर्णन है।

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—जीव परमात्माका अंश है। वह जबतक अपने अंशी परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उसका आवागमन नहीं मिट सकता। जैसे नदियोंके जलको अपने अंशी समुद्रसे मिलनेपर ही स्थिरता मिलती है, ऐसे ही जीवको अपने अंशी परमात्मासे मिलनेपर ही वास्तविक, स्थायी शान्ति मिलती है। वास्तवमें जीव परमात्मासे अभिन्न ही है, पर संसारके (माने हुए) संगके कारण उसको ऊँच-नीच योनियोंमें जाना पड़ता है।

यहाँ 'परमधाम' शब्द परमात्माका धाम और परमात्मा—दोनोंका ही वाचक है। यह परमधाम प्रकाशस्वरूप है। जैसे सूर्य अपने स्थान-विशेषपर भी स्थित है और प्रकाशरूपसे सब जगह भी स्थित है अर्थात् सूर्य और उसका प्रकाश परस्पर अभिन्न हैं, ऐसे ही परमधाम और सर्वव्यापी परमात्मा भी परस्पर अभिन्न हैं।

भक्तोंकी भिन्न-भिन्न मान्यताओंके कारण ब्रह्मलोक, साकेत धाम, गोलोक धाम, देवीद्वीप, शिवलोक आदि सब एक ही परमधामके भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह परमधाम चेतन, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और परमात्मस्वरूप है।

यह अविनाशी परमपद आत्मरूपसे सबमें समानरूपसे अनुस्यूत (व्याप्त) है। अतः स्वरूपसे हम उस परमपदमें

***(१) न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठोपनिषद् २। २। १५; मुण्डकोपनिषद् २। २। १०; श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १४)

'उस परमात्माको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, चन्द्र और तारे प्रकाशित नहीं करते, विद्युत् भी प्रकाशित नहीं करती, फिर यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित करेगी? यह सम्पूर्ण जगत् उस परमात्माके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है।'

(२) 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।' (मानस १। ११७। ४)

स्थित हैं ही; परन्तु जडता-(शरीर आदि-) से तादात्म्य, ममता और कामनाके कारण हमें उसकी प्राप्ति अथवा उसमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव नहीं हो रहा है।

परिशिष्ट भाव—हम भगवान्‌के अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। इसलिये भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है। इसी कारण उस धामकी प्राप्ति होनेपर फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। जबतक हम अपने उस धाममें नहीं जायँगे, तबतक हम मुसाफिरकी तरह अनेक योनियोंमें और अनेक लोकोंमें घूमते ही रहेंगे, कहीं भी ठहर नहीं सकेंगे। अगर हम ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोकमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी लौटकर आना पड़ेगा—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'** (गीता ८। १६)। कारण कि यह सम्पूर्ण संसार (मात्र ब्रह्माण्ड) परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियोंमें और लोकोंमें हमारा घूमना, भटकना तभी बन्द होगा, जब हम अपने असली घरमें पहुँच जायँगे।

परमपदको प्राप्त होकर फिर लौटकर संसारमें न आनेकी बात गीतामें तीन जगह कही गयी है—

१-यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। (८। २१)

२-ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। (१५। ४)

३-यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। (१५। ६)

भगवान्‌ने ज्ञानमार्गमें तो अपुनरावृत्तिकी प्राप्ति बतायी है—**'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'** (गीता ५। १७), पर भक्तिमार्गमें अपने धामकी प्राप्ति बतायी है—यह भक्तिकी विशेषता है! भगवान्‌के धाममें प्रेमका विशेष आस्वादन होता है।

परमपदको न तो आधिभौतिक प्रकाश (सूर्य, चन्द्र आदि) प्रकाशित कर सकता है और न आधिदैविक प्रकाश (नेत्र, मन, बुद्धि, वाणी आदि) ही प्रकाशित कर सकता है। कारण कि यह स्वयंप्रकाश है। इसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है।

'गत्वा' में गति है, प्रवृत्ति नहीं; क्योंकि अंशकी अंशीकी ओर गति होती है, प्रवृत्ति नहीं। प्रवृत्ति तो परतः होती है, पर गति स्वतः होती है।

गति और प्रवृत्ति—गति स्वतः-स्वाभाविक होती है और उसमें परिश्रम (प्रयत्न), उद्योग तथा कर्तृत्व नहीं होता। परन्तु प्रवृत्ति अस्वाभाविक और श्रमसाध्य, उद्योगसाध्य तथा कर्तृत्वसहित होती है। प्रवृत्ति तो अहंकारयुक्त होनेपर होती है, पर गति अहंकाररहित होनेपर होती है। इसलिये गति 'स्व' की तरफ होती है और प्रवृत्ति 'पर' की तरफ होती है। गति परमात्माकी तरफ होती है और प्रवृत्ति संसारकी तरफ होती है। गति चिन्मयताकी तरफ होती है और प्रवृत्ति जड़ताकी तरफ होती है। गति असीमकी तरफ ले जाती है और प्रवृत्ति सीमितकी तरफ ले जाती है। गति स्वाधीन करती है और प्रवृत्ति पराधीन करती है। भोग तथा संग्रहका सुख चाहनेपर प्रवृत्ति होती है और दूसरेको सुख देनेपर गति होती है।

गतिका उद्गम-स्थान 'सत्' है और प्रवृत्तिका उद्गम-स्थान 'असत्' है। जैसे, गंगाका उद्गम-स्थान गंगोत्री है। अगर गंगाको रोककर एक ऐसा बाँध बना दिया जाय, जो गंगोत्रीसे भी ऊँचा हो तो गंगाका जल स्वतः अपने उद्गम-स्थान गंगोत्रीकी तरफ जायगा। इस प्रकार गंगाका अपने उद्गम-स्थानकी ओर जाना 'गति' है। अतः गति दो तरहसे होती है—संसार (भोग और संग्रह)-की तरफ जाना बन्द करनेसे अर्थात् उससे विमुख होनेसे अथवा अपने उद्देश्य परमात्माकी तरफ जानेसे अर्थात् उनके सम्मुख होनेसे। नित्यप्राप्त परमात्माकी जो अप्राप्ति मानी है, उसका मिटना ही परमात्माकी तरफ गति होना है। गतिमें परमात्मासे मानी हुई दूरी मिटती है और वास्तविक एकता प्रकट होती है।

साधकको ऐसा अनुभव होता है कि कई वर्ष पहले जैसे भाव तथा आचरण थे, वैसे अब नहीं रहे, प्रत्युत पहलेसे अधिक श्रेष्ठ हो गये तो यह साधककी गति हुई है। साधनावस्थामें जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर मुक्त होनेके बाद प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी तरफ जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता अर्थात् अहम्‌का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसका कारण यह है कि जीव परमात्मासे जितना दूर होता है, उतना ही उसमें अहंकार रहता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहंकार रहता है, जो मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर अन्य दार्शनिकोंसे मतभेद करनेवाला होता है। परमात्मासे अभिन्नता होनेपर अहंकार सर्वथा मिट जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अपने परमधामका वर्णन करते हुए यह बताया कि उसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते। उसके विवेचनके रूपमें अपने अंश जीवात्माको भी (परमधामकी ही तरह) अपनेसे अभिन्न बताते हुए, जीवसे क्या भूल हो रही है कि जिससे उसको नित्यप्राप्त परमात्मस्वरूप परमधामका अनुभव नहीं हो रहा है—इसका हेतुसहित वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

जीवलोके	= इस संसारमें	**एव**	= ही	**मनःषष्ठानि**	= मन और पाँचों
जीवभूतः	= जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं)	**सनातनः**	= सनातन	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियोंको
		अंशः	= अंश है; (परन्तु वह)	**कर्षति**	= आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।
मम	= मेरा	**प्रकृतिस्थानि**	= प्रकृतिमें स्थित		

व्याख्या—‘**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**’—जिनके साथ जीवकी तात्त्विक अथवा स्वरूपकी एकता नहीं है, ऐसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमात्रका नाम ‘लोक’ है। तीन लोक, चौदह भुवनोंमें जीव जितनी योनियोंमें शरीर धारण करता है, उन सम्पूर्ण लोकों तथा योनियोंको ‘**जीवलोके**’पदके अन्तर्गत समझना चाहिये।

आत्मा परमात्माका अंश है; परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदिके साथ अपनी एकता मानकर वह ‘जीव’ हो गया है—‘**जीवभूतः**।’ उसका यह जीवपना बनावटी है, वास्तविक नहीं। नाटकमें कोई पात्र बननेकी तरह ही यह आत्मा जीवलोकमें ‘जीव’ बनता है।

सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि इस सम्पूर्ण जगत्‌को मेरी ‘जीवभूता’ परा प्रकृतिने धारण कर रखा है अर्थात् अपरा प्रकृति-(संसार-) से वास्तविक सम्बन्ध न होनेपर भी जीवने उससे अपना सम्बन्ध मान रखा है।

भगवान् जीवके प्रति कितनी आत्मीयता रखते हैं कि उसको अपना ही मानते हैं—‘**ममैवांशः**।’ मानते ही नहीं, प्रत्युत जानते भी हैं। उनकी यह आत्मीयता महान् हितकारी, अखण्ड रहनेवाली और स्वतःसिद्ध है।

यहाँ भगवान् यह वास्तविकता प्रकट करते हैं कि जीव केवल मेरा ही अंश है; इसमें प्रकृतिका किंचिन्मात्र भी अंश नहीं है। जैसे सिंहका बच्चा भेड़ोंमें मिलकर अपनेको भेड़ मान ले, ऐसे ही जीव शरीरादि जड पदार्थोंके साथ मिलकर अपने असली चेतनस्वरूपको भूल जाता है। अतः इस भूलको मिटाकर उसे अपनेको सदा सर्वथा चेतनस्वरूप ही अनुभव करना चाहिये। सिंहका बच्चा भेड़ोंके साथ मिलकर भी भेड़ नहीं हो जाता। जैसे कोई दूसरा सिंह आकर उसे बोध करा दे कि ‘देख! तेरी और मेरी आकृति, स्वभाव, जाति, गर्जना आदि सब एक समान हैं; अतः निश्चितरूपसे तू भेड़ नहीं, प्रत्युत मेरे-जैसा ही सिंह है।’ ऐसे ही भगवान् यहाँ ‘**मम एव**’ पदोंसे जीवको बोध कराते हैं कि हे जीव! तू मेरा ही अंश है। प्रकृतिके साथ तेरा सम्बन्ध कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं।

भगवत्प्राप्तिके सभी साधनोंमें ‘अहंता’ (मैं-पन) और ‘ममता’-(मेरा-पन-) का परिवर्तन-रूप साधन बहुत सुगम और श्रेष्ठ है। अहंता और ममता—दोनोंमें साधककी जैसी मान्यता होती है, उसके अनुसार उसका भाव तथा क्रिया भी स्वतः होती है। साधककी ‘अहंता’ यह होनी चाहिये कि ‘मैं भगवान्‌का ही हूँ’ और ‘ममता’ यह होनी चाहिये कि ‘भगवान् ही मेरे हैं।’

यह सबका अनुभव है कि हम अपनेको जिस वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मानते हैं, उसीके अनुसार हमारा जीवन बनता है। पर यह मान्यता (जैसे-मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ आदि) केवल (नाटकके स्वाँगकी तरह) कर्तव्य-पालनके लिये है; क्योंकि यह सदा रहनेवाली नहीं है। परन्तु ‘मैं भगवान्‌का हूँ’ यह वास्तविकता सदा रहनेवाली है। ‘मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ’ आदि भाव कभी हमसे ऐसा नहीं कहते कि ‘तुम ब्राह्मण हो’ या ‘तुम साधु हो।’ इसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, जमीन, मकान आदि जिन पदार्थोंको हम भूलसे अपना मान रहे हैं, वे हमें कभी भी ऐसा नहीं कहते कि तुम हमारे हो, पर सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता परमात्मा स्पष्ट घोषणा करते हैं कि जीव मेरा ही है!

विचार करना चाहिये कि शरीरादि पदार्थोंको हम अपने साथ लाये नहीं, इच्छानुसार उनमें परिवर्तन कर सकते नहीं, इच्छानुसार उनको अपने पास स्थिर रख सकते नहीं, हम भी उनके साथ सदा रह सकते नहीं, उनको अपने साथ ले जा सकते नहीं, फिर भी उनको अपना मानते हैं—यह हमारी कितनी बड़ी भूल है!

बचपनमें हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर जैसे थे, वैसे अब नहीं हैं, सब-के-सब बदल गये हैं, फिर भी हम 'मैं जो बचपनमें था, वही अब हूँ' ऐसा मानते हैं। कारण यही है कि शरीरादिमें परिवर्तन होनेपर भी हमारेमें परिवर्तन नहीं हुआ। इस प्रकार शरीरादिमें हमें स्पष्ट परिवर्तन दीखता है। जिसको परिवर्तन दीखता है, वह स्वयं परिवर्तनरहित होता ही है। अत: संसारके पदार्थ, व्यक्ति हमारे साथी नहीं हैं।

'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा भाव रखना अपने-आपको भगवान्‌में लगाना है। साधकोंसे भूल यही होती है कि वे अपने-आपको भगवान्‌में न लगाकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेकी कोशिश करते हैं। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस वास्तविकताको भूलकर 'मैं ब्राह्मण हूँ; मैं साधु हूँ' आदि भी मानते रहें और मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाते रहें तो यह दुविधा कभी मिटेगी नहीं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी मन-बुद्धि जैसे भगवान्‌में लगने चाहिये, वैसे लगेंगे नहीं। भगवान्‌ने भी इस अध्यायके चौथे श्लोकमें 'मैं उस परमात्माके शरण हूँ' पदोंसे अपने-आपको परमात्मामें लगानेकी बात ही कही है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं कि पहले भगवान्‌का होकर फिर नाम-जप आदि साधन करें तो अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई स्थिति आज अभी सुधर सकती है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌में केवल मन-बुद्धि लगानेकी अपेक्षा अपने-आपको भगवान्‌में लगाना श्रेष्ठ है। अपने-आपको भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि स्वत: सुगमतापूर्वक भगवान्‌में लग जाते हैं। नाटकका पात्र हजारों दर्शकोंके सामने यह कहता है कि 'मैं रावणका बेटा मेघनाद हूँ' और मेघनादकी तरह ही वह बाहरी सब क्रियाएँ करता है। परन्तु उसके भीतर यह भाव हरदम रहता है कि यह तो स्वाँग है; वास्तवमें मैं मेघनाद हूँ ही नहीं। इसी तरह साधकोंको भी नाटकके स्वाँगकी तरह इस संसाररूपी नाट्यशालामें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हुए भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा भाव हरदम जाग्रत् रखना चाहिये।

जीव सदासे ही भगवान्‌का है—'**सनातनः।**' भगवान्‌ने न तो कभी जीवका त्याग ही किया, न कभी उससे विमुख ही हुए। जीव भी भगवान्‌का त्याग नहीं कर सकता। भगवान्‌के द्वारा मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके वह भगवान्‌से विमुख हुआ है। जिस प्रकार सोनेका गहना तत्त्वत: सोनेसे अलग नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीव भी तत्त्वत: परमात्मासे कभी अलग नहीं हो सकता।

बुद्धिमान् कहलानेवाले मनुष्यकी यह बहुत बड़ी भूल है कि वह अपने अंशी भगवान्‌से विमुख हो रहा है। वह इधर खयाल ही नहीं करता कि भगवान् इतने सुहृद् (दयालु और प्रेमी) हैं कि हमारे न चाहनेपर भी हमें चाहते हैं, न जाननेपर भी हमें जानते हैं। वे कितने उदार, दयालु और प्रेमी हैं—इसका वर्णन भाषा, भाव, बुद्धि आदिके द्वारा हो ही नहीं सकता। ऐसे सुहृद् भगवान्‌को छोड़कर अन्य नाशवान् जड पदार्थोंको अपना मानना बुद्धिमानी नहीं, प्रत्युत महान् मूर्खता है।

जब मनुष्य भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्तव्यका पालन करता है, तब वे उसकी इतनी उन्नति कर देते हैं कि जीवन सफल हो जाता है और जन्म-मरणरूप बन्धन सदाके लिये मिट जाता है। जब मनुष्य भूलसे कोई निषिद्ध आचरण (पाप) कर बैठता है, तब वे दु:खोंको भेजकर उसको चेताते हैं, पुराने पापोंको भुगताकर उसको शुद्ध करते हैं और नये पापोंमें प्रवृत्तिसे रोकते हैं।

जीव कहीं भी क्यों न हो, नरकमें हो अथवा स्वर्गमें, मनुष्ययोनिमें हो अथवा पशुयोनिमें, भगवान् उसको अपना ही अंश मानते हैं। यह उनकी कितनी अहैतुकी कृपा, उदारता और महत्ता है! जीवके पतनको देखकर भगवान् दु:खी होकर कहते हैं कि मेरे पास आनेका उसका पूरा अधिकार था, पर वह मेरेको प्राप्त किये बिना ('**माम् अप्राप्य**') नरकोंमें जा रहा है (गीता—सोलहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

मनुष्य चाहे किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, भगवान् उसे वहाँ स्थिर नहीं रहने देते; उसे अपनी ओर खींचते ही रहते हैं। जब हमारी सामान्य स्थितिमें कुछ भी परिवर्तन (सुख-दु:ख, आदर-निरादर आदि) हो, तब यह मानना चाहिये कि भगवान् हमें विशेषरूपसे याद करके नयी

परिस्थिति पैदा कर रहे हैं; हमें अपनी ओर खींच रहे हैं। ऐसा मानकर साधक प्रत्येक परिस्थितिमें विशेष भगवत्-कृपाको देखकर मस्त रहे और भगवान्‌को कभी भूले नहीं।

अंशीको प्राप्त करनेमें अंशको कठिनाई और देरी नहीं लगती। कठिनाई और देरी इसलिये लगती है कि अंशने अपने अंशीसे विमुखता मानकर उन शरीरादिको अपना मान रखा है, जो अपने नहीं हैं। अत: भगवान्‌के सम्मुख होते ही उनकी प्राप्ति स्वत:सिद्ध है। सम्मुख होना जीवका काम है; क्योंकि जीव ही भगवान्‌से विमुख हुआ है। भगवान् तो जीवको अपना मानते ही हैं; जीव भगवान्‌को अपना मान ले—यही सम्मुखता है।

मनुष्यसे यह बड़ी भारी भूल हो रही है कि जो व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति अभी नहीं है अथवा जिसका मिलना निश्चित भी नहीं है और जो मिलनेपर भी सदा नहीं रहेगी—उसकी प्राप्तिमें वह अपना पूर्ण पुरुषार्थ और उन्नति मानता है। यह मनुष्यका अपने साथ बड़ा भारी धोखा है! वास्तवमें जो नित्यप्राप्त और अपना है, उस परमात्माको प्राप्त करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है, शूरवीरता है। हम धन, सम्पत्ति आदि सांसारिक पदार्थ कितने ही क्यों न प्राप्त कर लें, पर अन्तमें या तो वे नहीं रहेंगे अथवा हम नहीं रहेंगे। अन्तमें 'नहीं' ही शेष रहेगा। वास्तवमें जो सदा 'है', उस-(अविनाशी परमात्मा-)को प्राप्त कर लेनेमें ही शूरवीरता है। जो 'नहीं' है, उसको प्राप्त करनेमें कोई शूरवीरता नहीं है।

जीव जितना ही नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देता है, उतना ही वह पतनकी तरफ जाता है और जितना ही अविनाशी परमात्माको महत्त्व देता है, उतना ही वह ऊँचा उठता है। कारण कि जीव परमात्माका ही अंश है।

नाशवान् सांसारिक पदार्थोंको प्राप्त करके मनुष्य कभी भी बड़ा नहीं हो सकता। केवल बड़े होनेका वहम या धोखा हो जाता है और वास्तवमें असली बड़प्पन-(परमात्मप्राप्ति)-से वंचित हो जाता है। नाशवान् पदार्थोंके कारण माना गया बड़प्पन कभी टिकता नहीं और परमात्माके कारण होनेवाला बड़प्पन कभी मिटता नहीं! इसलिये जीव जिसका अंश है, उस सर्वोपरि परमात्माको प्राप्त करनेसे ही वह बड़ा होता है। इतना बड़ा होता है कि देवतालोग भी उसका आदर करते हैं और कामना करते हैं कि वह हमारे लोकमें आये। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं!

'मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'— भगवान्‌ने जिस प्रकार इसी श्लोकके पूर्वार्धमें जीवको अपनेमें स्थित न कहकर उसको अपना अंश बताया है, उसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्धमें मन तथा इन्द्रियोंको प्रकृतिका अंश न कहकर उनको प्रकृतिमें स्थित बताया है। तात्पर्य है कि भगवान्‌का अंश जीव सदा भगवान्‌में ही स्थित है और प्रकृतिमें स्थित मन तथा इन्द्रियाँ प्रकृतिके ही अंश हैं। मन और इन्द्रियोंको अपना मानना, उनसे अपना सम्बन्ध मानना ही उनको आकर्षित करना है।

यहाँ बुद्धिका अन्तर्भाव 'मन' शब्दमें (जो अन्त:-करणका उपलक्षण है)और पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव 'इन्द्रिय' शब्दमें मान लेना चाहिये। उपर्युक्त पदोंमें भगवान् कहते हैं कि मेरा अंश जीव मेरेमें स्थित रहता हुआ भी भूलसे अपनी स्थिति शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिमें मान लेता है। जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि प्रकृतिका अंश होनेसे कभी प्रकृतिसे पृथक् नहीं होते, ऐसे ही जीव भी मेरा अंश होनेसे कभी मेरेसे पृथक् होता नहीं, हो सकता नहीं। परन्तु यह जीव मेरेसे विमुख होकर मुझे भूल गया है।

यहाँ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका नाम लेनेका तात्पर्य यह है कि इन छहोंसे सम्बन्ध जोड़कर ही जीव बँधता है। अत: साधकको चाहिये कि वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारके अर्पण कर दे अर्थात् संसारकी सेवामें लगा दे और अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर दे।

विशेष बात

(१)

मनुष्य भूलसे शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई आदि नाशवान् वस्तुओंको अपनी और अपने लिये मानकर दु:खी होता है। इससे भी नीची बात यह है कि इस सामग्रीके भोग और संग्रहको लेकर वह अपनेको बड़ा मानने लगता है; जबकि वास्तवमें इनको अपना मानते ही इनका गुलाम हो जाता है। हमें पता लगे या न लगे, हम जिन पदार्थोंकी आवश्यकता समझते हैं, जिनमें कोई विशेषता या महत्त्व देखते हैं या जिनकी हम गरज रखते हैं, वे (धन, विद्या आदि) पदार्थ हमसे बड़े और हम उनसे तुच्छ हो ही गये। पदार्थोंके मिलनेमें जो अपना महत्त्व समझता है, वह वास्तवमें तुच्छ ही है, चाहे उसे पदार्थ मिलें या न मिलें।

भगवान्‌का दास होनेपर भगवान् कहते हैं—**'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'**! परंतु जिनके हम दास बने हुए हैं, वे धनादि जड पदार्थ कभी नहीं कहते—**'लोभी मेरे मुकुटमणि'**! वे तो केवल हमें अपना दास ही बनाते हैं। वास्तवमें भगवान्‌को अपना जानकर उनके शरण हो जानेसे ही मनुष्य बड़ा बनता है, ऊँचा उठता है। इतना ही नहीं; भगवान् ऐसे भक्तको अपनेसे भी बड़ा मान लेते हैं और कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

हे द्विज! मैं भक्तोंके पराधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। भक्तजन मेरेको अत्यन्त प्यारे हैं। मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है। कोई भी सांसारिक व्यक्ति, पदार्थ क्या हमें इतनी बड़ाई दे सकता है?

यह जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके अंश शरीरादिको अपना मानकर स्वयं अपना अपमान करता है और अपनेको नीचे गिराता है। अगर मनुष्य इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सांसारिक पदार्थोंका दास न बने, तो वह भगवान्‌का भी इष्ट हो जाय—**'इष्टोऽसि मे दृढमिति'** (गीता १८। ६४)। जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया है, उनको भगवान् अपना प्रिय कहते हैं (गीता—बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)। परंतु जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त नहीं किया है; किंतु जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंको तो वे अपना 'अत्यन्त प्रिय' कहते हैं— **'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः'** (गीता १२। २०)। ऐसे परम दयालु भगवान्‌को, जो साधकोंको 'अत्यन्त प्रिय' और सिद्ध भक्तोंको केवल 'प्रिय' कहते हैं, मनुष्य अपना नहीं मानता—यह उसका कितना प्रमाद है!

(२)

संसारका एक छोटा-सा अंश शरीर है और परमात्माका अंश स्वयं (जीवात्मा) है। भूल यह होती है कि परमात्माका अंश संसारके अंशके साथ मिलकर संसार और परमात्मा—दोनोंको अपने अनुकूल बनाना चाहता है! साधकका काम है—इस भूलको मिटाना। इसके लिये वह शरीरको तो संसारके अनुकूल बना दे और स्वयं परमात्माके अनुकूल बन जाय। तात्पर्य है कि शरीरको संसारपर छोड़ दे कि जैसी संसारकी मरजी हो, वैसे रखे; और अपनेको परमात्मापर छोड़ दे कि जैसी परमात्माकी मरजी हो, वैसे रखे।

संसारकी चीज संसारको दे दे और परमात्माकी चीज परमात्माको दे दे—यह ईमानदारी है। इस ईमानदारीका नाम ही 'मुक्ति' है। जिसकी चीज है, उसको न दे; संसारकी चीज भी ले ले और परमात्माकी चीज भी ले ले—यह बेईमानी है। इस बेईमानीका नाम ही 'बन्धन' है।

संसारकी चीज संसारपर और परमात्माकी चीज परमात्मापर छोड़कर निश्चिन्त हो जाय। अपनी कोई कामना न रखे। न जीनेकी कामना रखे, न मरनेकी। भगवान् ऐसा कर देते तो ठीक रहता; भगवान् वर्षा कर देते तो ठीक रहता; गरमी ज्यादा पड़ रही है, थोड़ी कम कर देते तो अच्छा था; बाढ़ आ गयी, वर्षा कम करते तो ठीक रहता—इस तरह मनुष्य परमात्माको भी अपने अनुकूल बनाना चाहता है और संसारको भी। इस बातको छोड़कर अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर दे और भगवान्‌से कह दे कि हे नाथ! आप मेरेको पृथ्वीपर रखें या स्वर्गमें रखें अथवा नरकोंमें रखें; बालक रखें या जवान रखें अथवा बूढ़ा रखें; अपमानित रखें या सम्मानित रखें; सुखी रखें या दुःखी रखें; जैसी परिस्थितिमें रखना चाहें, वैसे रखें, पर मैं आपको भूलूँ नहीं।

मनुष्य जिस घरको अपना मानता है, जिस कुटुम्बको अपना मानता है, जिन रुपयोंको अपना मानता है, उनकी ही चिन्ता उसको होती है। संसारमें लाखों-करोड़ों घर हैं, अरबों आदमी हैं, अनगिनत रुपये हैं, पर उनकी चिन्ता नहीं होती; क्योंकि उनको वह अपना नहीं मानता। जिनको अपना नहीं मानता, उनसे तो मुक्त है ही। अतः ज्यादा मुक्ति तो हो चुकी है, थोड़ी-सी ही मुक्ति बाकी है!

विचार करना चाहिये कि जिन थोड़ी-सी चीजोंको हम अपनी मानते हैं, वे कौन-सी सदा साथ रहनेवाली हैं! चीजें तो रहेंगी नहीं, पर बन्धन (उनका सम्बन्ध) रह जायगा, जो जन्म-जन्मान्तरतक साथ रहेगा। इसलिये साधकको चाहिये कि वह या तो शरीरको संसारके अर्पण कर दे, जो कर्मयोग है; चाहे अपनेको शरीर-संसारसे सर्वथा अलग कर ले, जो ज्ञानयोग है; और चाहे अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर दे, जो भक्तियोग है। इन तीनोंमेंसे कोई भी साधन अपना ले, तीनोंका फल एक ही होगा।

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान्‌ने जिसको अपना अंश कहा है, उसीको सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अपनी 'परा प्रकृति' कहा है। इसलिये दोनों ही जगह 'जीवभूत' (जीव बना हुआ) शब्द आया है—'**जीवभूतः**', '**जीवभूताम्**'। परा और अपरा—दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं (गीता—सातवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। जबसे पराकी दृष्टि भगवान्‌से हटकर अपराकी तरफ चली गयी, तबसे परा जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गयी। इसी बातको सातवें अध्यायमें '**ययेदं धार्यते जगत्**' पदोंसे और यहाँ '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥**' पदोंसे कहा गया है।

यद्यपि अपरा भी भगवान्‌की है, तथापि उसका स्वभाव अलग (परिवर्तनशील) है। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको अपरासे अतीत बताया है—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**' (गीता १५। १८)। परन्तु परा और भगवान् एक स्वभाववाले (अपरिवर्तनशील) हैं। इसलिये '**ममैवांशः**' पदमें '**एव**' कहनेका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण होता है, ऐसे जीवमें मेरा और प्रकृतिके अंशका मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल मेरा अंश है। अतः इसका सम्बन्ध केवल मेरे साथ है, प्रकृतिके साथ नहीं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तो यह खुद जोड़ता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥**'

अपरा प्रकृति परमात्माकी है, पर जीवने उसको अपना मान लिया और उससे सुख लेने लग गया, तभी वह बन्धनमें पड़ा है। अपनी न होनेके कारण ही न वस्तुएँ ठहरती हैं, न सुख ठहरता है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अनर्थका कारण है। जीव शरीरको अपनी तरफ खींचता है (**कर्षति**) अर्थात् अपना मानता है, पर जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको अपना मानता ही नहीं। यही जीवकी मूल भूल है।

जीव ब्रह्म (निर्गुण)-का अंश नहीं है, प्रत्युत ईश्वर (सगुण)-का अंश है—'**ईस्वर अंस जीव अबिनासी**' (मानस ७। ११७। १)। कारण कि ब्रह्म चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसमें अंश-अंशीभाव हो सकता ही नहीं। जीवकी ब्रह्मसे एकता (साधर्म्य) है अर्थात् अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है। शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे वह जीव है और शरीरके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह ब्रह्म है। अतः वास्तवमें जीव और ब्रह्म—दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंश हैं। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आधार) बताया है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (१४। २७) और ब्रह्मको अपने ही समग्र रूपका एक अंग बताया है—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**……' (७। २९-३०)।

मन और इन्द्रियाँ जिसके अंश हैं, उसीमें रहते हैं—'**प्रकृतिस्थानि**'। इससे जीवको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मैं भी जिसका अंश हूँ, उसीमें निरन्तर रहना चाहिये, उसीके साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। यह सम्बन्ध स्वयंको ही जोड़ना पड़ेगा, दूसरा नहीं जोड़ेगा। कारण कि स्वयंने ही जगत्‌से सम्बन्ध जोड़ा है और स्वयं ही परमात्मासे विमुख हुआ है। जगत्‌के सम्मुख होने (सम्बन्ध जोड़ने)-में जगत् कारण नहीं है और परमात्मासे विमुख होनेमें परमात्मा कारण नहीं हैं, प्रत्युत दोनोंमें स्वयं ही कारण है। परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वतन्त्र है और इसी स्वतन्त्रताका उसने दुरुपयोग किया है। इसलिये इसका सदुपयोग स्वयंको ही करना पड़ेगा—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६। ५)।

प्रकृतिके साथ मन और इन्द्रियोंका नित्य और वास्तविक सम्बन्ध है, पर मन और इन्द्रियोंके साथ स्वयं (आत्मा)-का अनित्य और माना हुआ सम्बन्ध है। अनित्य सम्बन्ध कभी स्थायी नहीं रहता, प्रत्युत बदलता और मिटता रहता है। स्वयंका नित्य सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो कभी बदलता और मिटता नहीं। परन्तु अनित्य सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेसे उस नित्य सम्बन्धसे विमुखता हो जाती है, जिससे उसका अनुभव नहीं होता।

'**ममैवांशो जीवलोके**' पदोंसे यह भाव निकलता है कि हम तो प्रभुको अपना मानते हैं, पर प्रभु हमें अपना जानते हैं! जब जीव भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब वह भी प्रभुको अपना जान लेता है—'**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**' (गीता ७। १४)।

जीव भगवान्‌का सनातन अंश है; अतः भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् उनको अपना मानना ही इसका वास्तविक पुरुषार्थ है। शरीरसे होनेवाले पुरुषार्थमें तो क्रिया मुख्य है, जो केवल संसारके लिये ही होती है; क्योंकि शरीर संसारका अंश है। परन्तु स्वयंसे होनेवाले पुरुषार्थमें भाव मुख्य है। इसलिये बुराईरहित होना, असंग होना, भगवान्‌को अपना मानना—ये स्वयंके पुरुषार्थ हैं। बुराईरहित होनेसे मनुष्य संसारके लिये उपयोगी हो जाता है।

शरीर-संसारसे असंग होनेसे अपने लिये उपयोगी हो जाता है। भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है। बुराईरहित हुए बिना मनुष्य संसारके लिये उपयोगी नहीं हो सकता। शरीर-संसारसे असंग हुए बिना मनुष्य अपने लिये उपयोगी नहीं हो सकता। भगवान्‌के साथ अपनेपनका सम्बन्ध जोड़े बिना मनुष्य भगवान्‌के लिये उपयोगी नहीं हो सकता।

मैं बुराईरहित हो जाऊँ, मैं असंग हो जाऊँ, मैं भगवत्प्रेमी हो जाऊँ—ऐसी आवश्यकताका अनुभव करना भी पुरुषार्थ है। परन्तु सबसे पहले साधकको यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि मैं बुराईरहित हो सकता हूँ, असंग हो सकता हूँ, प्रेमी हो सकता हूँ। इसके लिये साधकको यह जानना चाहिये कि संसारके नाते भी हम सब एक हैं, आत्माके नाते भी हम सब एक हैं और परमात्माके नाते भी हम सब एक हैं। इसलिये जैसे अपने शरीरके हितका भाव रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीरोंके हितका भाव रहना चाहिये अथवा जैसे सम्पूर्ण शरीरोंसे हम निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे ही इस शरीरसे भी निर्लिप्त रहना चाहिये। सम्पूर्ण शरीरोंके साथ अपने शरीरकी एकता मानकर हम बुराई-रहित हो सकते हैं। अपने शरीरसहित सम्पूर्ण शरीरोंको छोड़कर हम असंग (अपने स्वरूपमें स्थित) हो सकते हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसारको छोड़कर हम भगवत्प्रेमी हो सकते हैं।

हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है—‘**ममैवांशो जीवलोके**’, इसलिये हम परमात्मामें ही स्थित हैं। परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ है, इसलिये वे प्रकृतिमें ही स्थित हैं—‘**प्रकृतिस्थानि**’। ‘**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**’ (गीता १३। १९)। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं और परमात्मासे अलग हम कभी हुए ही नहीं, हैं ही नहीं, होंगे ही नहीं, हो सकते ही नहीं। हमारेसे दूर-से-दूर कोई चीज है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई चीज है तो वह परमात्मा है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण मनुष्यको उलटा दीखता है अर्थात् शरीर तो नजदीक दीखता है और परमात्मा दूर! शरीर तो प्राप्त दीखता है और परमात्मा अप्राप्त!

शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-शरीर मेरा नहीं है; क्योंकि इसपर मेरा वश नहीं चलता। २-मेरेको कुछ नहीं चाहिये और ३-मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। जबतक साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक स्थूलशरीरसे होनेवाला ‘कर्म’, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला ‘चिन्तन’ और कारणशरीरसे होनेवाली ‘स्थिरता’ (निर्विकल्प अवस्था)—तीनों ही उसको बाँधनेवाले होते हैं। परन्तु तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह कर्म, चिन्तन और स्थिरता— तीनोंसे बँधता नहीं अर्थात् तीनोंसे असंग हो जाता है।

भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी जागृतिके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-प्रभु मेरे हैं, २-मैं प्रभुका हूँ और ३-सब कुछ प्रभुका है। भगवान्‌से नित्य-सम्बन्धकी जागृति होनेपर साधकको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जीवनकी पूर्णता है।

मनुष्यमें तीन इच्छाएँ होती हैं—भोगकी इच्छा, तत्त्वकी इच्छा और प्रेमकी इच्छा। भोगकी इच्छा ‘कामना’, तत्त्वकी इच्छा ‘जिज्ञासा’ और प्रेमकी इच्छा ‘पिपासा’ (अभिलाषा) कहलाती है। भोगकी कामना शरीरको लेकर, तत्त्वकी जिज्ञासा स्वरूपको लेकर और प्रेमकी पिपासा परमात्माको लेकर होती है। शरीरको अपना मानना भूल है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका अंश है। अत: शरीरको लेकर होनेवाली भोगकी इच्छा प्राकृत (असत्) होनेसे अपनी नहीं है, प्रत्युत भूलसे है। परन्तु तत्त्वकी और प्रेमकी इच्छा अपनी है, भूलसे नहीं है। इसलिये शरीरको निष्कामभावपूर्वक परिवारकी, समाजकी और संसारकी सेवामें लगानेसे अथवा तत्त्वकी जिज्ञासा तेज होनेसे भूल मिट जाती है। भूल मिटनेसे भोगकी इच्छा मिट जाती है। भोगकी इच्छा मिटनेसे तत्त्वकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और साधकको स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है अर्थात् उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माके प्रेमकी पिपासा जाग्रत् होती है। मात्र जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये मात्र जीवोंकी अन्तिम इच्छा प्रेमकी ही है। प्रेमकी इच्छा सार्वभौम इच्छा है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यजन्म पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

सम्बन्ध—मनसहित इन्द्रियोंको अपना माननेके कारण जीव किस प्रकार उनको साथ लेकर अनेक योनियोंमें घूमता है—इसका भगवान् दृष्टान्तसहित वर्णन करते हैं।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

जैसे—

वायुः	= वायु	**अपि**	= भी	**गृहीत्वा**	= ग्रहण करके
आशयात्	= गन्धके स्थानसे	**यत्**	= जिस	**च**	= फिर
गन्धान्	= गन्धको (ग्रहण करके ले जाती है),	**शरीरम्**	= शरीरको	**यत्**	= जिस (शरीर)-को
इव	= ऐसे ही	**उत्क्रामति**	= छोड़ता है, (वहाँसे)	**अवाप्नोति**	= प्राप्त होता है (उसमें)
ईश्वरः	= शरीरादिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा	**एतानि**	= इन (मनसहित इन्द्रियों)-को	**संयाति**	= चला जाता है।

व्याख्या—**'वायुर्गन्धानिवाशयात्'**—जिस प्रकार वायु इत्रके फोहेसे गन्ध ले जाती है; किन्तु वह गन्ध स्थायीरूपसे वायुमें नहीं रहती; क्योंकि वायु और गन्धका सम्बन्ध नित्य नहीं है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्वभाव आदि-(सूक्ष्म और कारण—दोनों शरीरों-) को अपना माननेके कारण जीवात्मा उनको साथ लेकर दूसरी योनिमें जाता है।

जैसे वायु तत्त्वतः गन्धसे निर्लिप्त है, ऐसे ही जीवात्मा भी तत्त्वतः मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिसे निर्लिप्त है; परन्तु इन मन, इन्द्रियाँ, शरीरादिमें मैं-मेरेपनकी मान्यता होनेके कारण वह (जीवात्मा) इनका आकर्षण करता है।

जैसे वायु आकाशका कार्य होते हुए भी पृथ्वीके अंश गन्धको साथ लिये घूमती है, ऐसे ही जीवात्मा परमात्माका सनातन अंश होते हुए भी प्रकृतिके कार्य (प्रतिक्षण बदलनेवाले) शरीरोंको साथ लिये भिन्न-भिन्न योनियोंमें घूमता है। जड होनेके कारण वायुमें यह विवेक नहीं है कि वह गन्धको ग्रहण न करे; परन्तु जीवात्माको तो यह विवेक और सामर्थ्य मिला हुआ है कि वह जब चाहे, तब शरीरसे सम्बन्ध मिटा सकता है। भगवान्ने मनुष्यमात्रको यह स्वतन्त्रता दे रखी है कि वह चाहे जिससे सम्बन्ध जोड़ सकता है और चाहे जिससे सम्बन्ध तोड़ सकता है। अपनी भूल मिटानेके लिये केवल अपनी मान्यता बदलनेकी आवश्यकता है कि प्रकृतिके अंश इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंसे मेरा (जीवात्माका) कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर जन्म-मरणके बन्धनसे सहज ही मुक्ति है।

भगवान्ने यहाँ तीन शब्द दृष्टान्तके रूपमें दिये हैं—(१) वायु, (२) गन्ध और (३) आशय। 'आशय' कहते हैं स्थानको; जैसे—जलाशय (जल+आशय) अर्थात् जलका स्थान। यहाँ आशय नाम स्थूलशरीरका है। जिस प्रकार गन्धके स्थान (आशय) इत्रके फोहेसे वायु गन्ध ले जाती है और फोहा पीछे पड़ा रहता है, इसी प्रकार वायुरूप जीवात्मा गन्धरूप सूक्ष्म और कारण-शरीरोंको साथ लेकर जाता है, तब गन्धका आशय-रूप स्थूलशरीर पीछे रह जाता है।

'शरीरं यदवाप्नोति'''''गृहीत्वैतानि संयाति'— यहाँ **'ईश्वरः'** पद जीवात्माका वाचक है। इस जीवात्मासे तीन खास भूलें हो रही हैं—

(१) अपनेको मन, बुद्धि, शरीरादि जड पदार्थोंका स्वामी मानता है, पर वास्तवमें बन जाता है स्वयं उनका दास।

(२) अपनेको उन जड पदार्थोंका स्वामी मान लेनेके कारण अपने वास्तविक स्वामी परमात्माको भूल जाता है।

(३) जड पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेमें स्वाधीन होनेपर भी उनका त्याग नहीं करता।

परमात्माने जीवात्माको शरीरादि सामग्रीका सदुपयोग करनेकी स्वाधीनता दी है। उनका सदुपयोग करके अपना उद्धार करनेके लिये ये वस्तुएँ दी हैं, उनका स्वामी बननेके लिये नहीं। परन्तु जीवसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह उस सामग्रीका सदुपयोग नहीं करता; प्रत्युत अपनेको उनका मालिक मान लेता है, पर वास्तवमें उनका गुलाम बन जाता है।

जीवात्मा जड पदार्थोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग तभी कर सकता है, जब उसे यह मालूम हो जाय कि इनका मालिक बननेसे मैं सर्वथा पराधीन हो गया हूँ और मेरा पतन हो गया है। यह जिनका मालिक बनता है, उनकी गुलामी इसमें आ ही जाती है। इसे केवल वहम होता है कि मैं इनका मालिक हूँ। जड पदार्थोंका मालिक बन

जानेसे एक तो इसे उन पदार्थोंकी 'कमी' का अनुभव होता है और दूसरा यह अपनेको 'अनाथ' मान लेता है।

जिसे मालिकपना या अधिकार प्यारा लगता है, वह परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि जो किसी व्यक्ति, वस्तु, पद आदिका स्वामी बनता है, वह अपने स्वामीको भूल जाता है—यह नियम है। उदाहरणार्थ, जिस समय बालक केवल माँको अपना मानकर उसे ही चाहता है, उस समय वह माँके बिना रह ही नहीं सकता। किन्तु वही बालक जब बड़ा होकर गृहस्थ बन जाता है और अपनेको स्त्री, पुत्र आदिका स्वामी मानने लगता है, तब उसी माँका पास रहना उसे सुहाता नहीं। यह स्वामी बननेका ही परिणाम है! इसी प्रकार यह जीवात्मा भी शरीरादि जड पदार्थोंका स्वामी (ईश्वर) बनकर अपने वास्तविक स्वामी परमात्माको भूल जाता है—उनसे विमुख हो जाता है। जबतक यह भूल या विमुखता रहेगी, तबतक जीवात्मा दु:ख पाता ही रहेगा।

'**ईश्वरः**' पदके साथ '**अपि**' पद एक विशेष अर्थ रखता है कि यह ईश्वर बना जीवात्मा वायुके समान असमर्थ, जड और पराधीन नहीं है। इस जीवात्मामें ऐसी सामर्थ्य और विवेक है कि यह जब चाहे, तब माने हुए सम्बन्धको छोड़ सकता है और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव कर सकता है। परन्तु संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण यह संसारसे माने हुए सम्बन्धको छोड़ता नहीं और छोड़ना चाहता भी नहीं। जडता-(शरीरादि-) से तादात्म्य छूटनेपर जीवात्मा (गन्धकी तरह) शरीरोंको साथ ले जा सकता ही नहीं।

जीवको दो शक्तियाँ प्राप्त हैं—(१) प्राणशक्ति, जिससे श्वासोंका आवागमन होता है और (२) इच्छाशक्ति, जिससे भोगोंको पानेकी इच्छा करता है। प्राणशक्ति हरदम (श्वासोच्छ्वासके द्वारा) क्षीण होती रहती है। प्राणशक्तिका खत्म होना ही मृत्यु कहलाती है। जडका संग करनेसे कुछ करने और पानेकी इच्छा बनी रहती है। प्राणशक्तिके रहते हुए इच्छाशक्ति अर्थात् कुछ करने और पानेकी इच्छा मिट जाय, तो मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। प्राणशक्ति नष्ट हो जाय और इच्छाएँ बनी रहें, तो दूसरा जन्म लेना ही पड़ता है। नया शरीर मिलनेपर इच्छाशक्ति तो वही (पूर्वजन्मकी) रहती है, प्राणशक्ति नयी मिल जाती है।

प्राणशक्तिका व्यय इच्छाओंको मिटानेमें होना चाहिये। नि:स्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेसे इच्छाएँ सुगमतापूर्वक मिट जाती हैं।

यहाँ '**गृहीत्वा**' पदका तात्पर्य है—जो अपने नहीं हैं, उनसे राग, ममता, प्रियता करना। जिन मन, इन्द्रियोंके साथ अपनापन करके जीवात्मा उनको साथ लिये फिरता है, वे मन, इन्द्रियाँ कभी नहीं कहतीं कि हम तुम्हारी हैं और तुम हमारे हो। इनपर जीवात्माका शासन भी चलता नहीं; जैसा चाहे वैसा रख सकता नहीं, परिवर्तन कर सकता नहीं; फिर भी इनके साथ अपनापन रखता है, जो कि भूल ही है। वास्तवमें यह अपनेपनका (राग, ममतायुक्त) सम्बन्ध ही बाँधनेवाला होता है।

वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो, बढ़िया हो या घटिया हो, हमारे काममें आये या न आये, दूर हो या पास हो यदि उस वस्तुको हम अपनी मानते हैं तो उससे हमारा सम्बन्ध बना हुआ ही है।

अपनी तरफसे छोड़े बिना शरीरादिमें ममताका सम्बन्ध मरनेपर भी नहीं छूटता। इसलिये मृत शरीरकी हड्डियोंको गंगाजीमें डालनेसे उस जीवकी आगे गति होती है। इस माने हुए सम्बन्धको छोड़नेमें हम सर्वथा स्वतन्त्र तथा सबल हैं। यदि शरीरके रहते हुए ही हम उससे अपनापन हटा दें, तो जीते-जी ही मुक्त हो जायँ!

जो अपना नहीं है, उसको अपना मानना और जो अपना है, उसको अपना न मानना—यह बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण ही पारमार्थिक मार्गमें उन्नति नहीं होती।

इस श्लोकमें आया '**एतानि**' पद सातवें श्लोकके '**मन:षष्ठानीन्द्रियाणि**' (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन-) का वाचक है। यहाँ '**एतानि**' पदको सत्रह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीर एवं कारणशरीर-(स्वभाव-) का भी द्योतक मानना चाहिये। इन सबको ग्रहण करके जीवात्मा दूसरे शरीरमें जाता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंका त्याग करके नये वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही जीवात्मा पुराने शरीरका त्याग करके नये शरीरको प्राप्त होता है(गीता—दूसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

वास्तवमें शुद्ध चेतन-(आत्मा-)का किसी शरीरको प्राप्त करना और उसका त्याग करके दूसरे शरीरमें जाना हो नहीं सकता; क्योंकि आत्मा अचल और समानरूपसे सर्वत्र व्याप्त है (गीता—दूसरे अध्यायका सत्रहवाँ और चौबीसवाँ श्लोक)। शरीरोंका ग्रहण और त्याग परिच्छिन्न (एकदेशीय) तत्त्वके द्वारा ही होना सम्भव है, जबकि आत्मा कभी किसी भी देश-कालादिमें परिच्छिन्न नहीं हो सकता। परन्तु जब यह आत्मा प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य कर लेता है अर्थात् प्रकृतिस्थ हो जाता है, तब

(स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमें अपनेको तथा अपनेमें तीनों शरीरोंको धारण करने अर्थात् उनमें अपनापन करनेसे) वह प्रकृतिके कार्य शरीरोंका ग्रहण-त्याग करने लगता है। तात्पर्य यह है कि शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान लेनेके कारण आत्मा सूक्ष्मशरीरके आने-जानेको अपना आना-जाना मान लेता है। जब प्रकृतिके कार्य शरीरसे तादात्म्य मिट जाता है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे आत्माका माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहता; तब ये शरीर अपने कारणभूत समष्टि तत्त्वोंमें लीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पुनर्जन्मका मूल कारण जीवका शरीरसे माना हुआ तादात्म्य ही है।

परिशिष्ट भाव—पूर्वश्लोकमें '**कर्षति**' पद और इस श्लोकमें '**गृहीत्वा**' पद आया है। '**कर्षति**' का अर्थ है—अपनी तरफ खींचना और '**गृहीत्वा**' का अर्थ है—पकड़ना अर्थात् तादात्म्य करना। वायुका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जीव वायुकी तरह निर्लिप्त रहता है। शरीरसे लिप्त होनेपर भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता कभी मिटती नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। वायुमें गन्ध हरदम नहीं रहती, स्वतः छूट जाती है; परन्तु जीव जबतक मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको छोड़ता नहीं, तबतक वे छूटते नहीं। इसका कारण यह है कि मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको जीव खुद पकड़ता है—'**गृहीत्वैतानि**'; अतः खुद छोड़नेपर ही वे छूटते हैं।

प्रत्येक भोगसे स्वाभाविक उपरति होती है—यह सबका अनुभव है। भोगोंमें प्रवृत्ति तो कृत्रिम होती है, पर निवृत्ति स्वाभाविक होती है। रुचि तो जीव करता है, पर अरुचि स्वतः होती है। जैसे, तम्बाकू पीनेवाले धुआँ भीतर खींचते हैं, पर वह बाहर स्वतः निकलता है! मुँह बन्द करें तो नाकसे निकल जायगा! धुआँ तो टिकता नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है, व्यसन लग जाता है। ऐसे ही भोग तो टिकते नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है। भोग तो स्वतः छूटते हैं, उनसे अरुचि स्वतः होती है, पर आदत बिगड़नेसे जीव उनको बार-बार पकड़ता रहता है और 'ईश्वर' अर्थात् स्वतन्त्र होते हुए भी परवशताका अनुभव करता रहता है। भोगोंमें लिप्त होते हुए भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता मिटती नहीं, पर इसकी तरफ यह ध्यान नहीं देता और इसको महत्त्व नहीं देता। शरीरसे सम्बन्ध न होते हुए भी यह उससे सम्बन्ध मानकर सुख लेता रहता है। सम्बन्ध तो अनित्य होता है, पर सम्बन्ध-विच्छेद नित्य होता है। कारण कि संसारकी जातिका (जड़ तथा परिवर्तनशील) होनेसे शरीर विजातीय है। विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है। परमात्माका अंश होनेसे जीवकी परमात्माके साथ सजातीयता है। अतः इसका स्वतः सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। अगर जीव सन्तोंकी, भगवान्‌की, शास्त्रोंकी वाणीपर विश्वास करके परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ ले तो फिर इसको अनुभव हो जायगा। परन्तु यह पदार्थोंके सम्बन्धको मुख्यता दे देता है। जबतक यह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तबतक भगवान् कोई भी सम्बन्ध टिकने नहीं देते, तोड़ते ही रहते हैं। जीव कितना ही जोर लगा ले, वह संसारका सम्बन्ध स्थायी रख सकता ही नहीं।

सम्बन्ध—अब भगवान् सातवें श्लोकमें आये हुए 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' पदका खुलासा करते हैं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९ ॥

अयम्	= यह (जीवात्मा)	**च**	= और	**च**	= और
मनः	= मनका	**चक्षुः**	= नेत्र	**घ्राणम्**	= घ्राण (—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा)
अधिष्ठाय	= आश्रय लेकर	**च**	= तथा		
एव	= ही	**स्पर्शनम्**	= त्वचा,	**विषयान्**	= विषयोंका
श्रोत्रम्	= श्रोत्र	**रसनम्**	= रसना	**उपसेवते**	= सेवन करता है।

व्याख्या—'**अधिष्ठाय मनश्चायम्**'—मनमें अनेक प्रकारके (अच्छे-बुरे) संकल्प-विकल्प होते रहते हैं* इनसे 'स्वयं'

* मनुष्य अपने मनमें निरन्तर कुछ-न-कुछ सोचता रहता है, जिसे संकल्प-विकल्प, मनोरथ या मनोराज्य कहते हैं। निद्राके समय यही 'स्वप्न' होकर दीखने लगता है। मनपर बुद्धिका परदा (प्रभाव) रहनेके कारण हम मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको प्रकट नहीं करते। परंतु बुद्धिका परदा हटनेपर मनमें आयी हुई प्रत्येक बातको कहना या उसके अनुसार आचरण करना 'पागलपन' कहलाता है। इस प्रकार मनोराज्य, स्वप्न तथा पागलपन—ये तीनों एक ही हैं।

की स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि 'स्वयं' (चेतन-तत्त्व, आत्मा) जड शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिसे अत्यन्त परे और उनका आश्रय तथा प्रकाशक है। संकल्प-विकल्प आते-जाते हैं और 'स्वयं' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

मनका संयोग होनेपर ही सुनने, देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा सूँघनेका ज्ञान होता है। जीवात्माको मनके बिना इन्द्रियोंसे सुख-दुःख नहीं मिल सकता। इसलिये यहाँ मनको अधिष्ठित करनेकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा मनको अधिष्ठित करके अर्थात् उसका आश्रय लेकर ही इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है।

'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च'—श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कानोंमें सुननेकी शक्ति* '**श्रोत्रम्**' है। आजतक हमने अनेक प्रकारके अनुकूल (स्तुति, मान, बड़ाई, आशीर्वाद, मधुर गान, वाद्य आदि) और प्रतिकूल (निन्दा, अपमान, शाप, गाली आदि) शब्द सुने हैं; पर उनसे 'स्वयं' में क्या फरक पड़ा?

किसीको पौत्रके जन्म तथा पुत्रकी मृत्युका समाचार एक साथ मिला। दोनों समाचार सुननेसे एकके 'जन्म' तथा दूसरेकी 'मृत्यु' का जो ज्ञान हुआ, उस 'ज्ञान' में कोई अन्तर नहीं आया। जब ज्ञानमें भी कोई अन्तर नहीं आया, तो फिर 'ज्ञाता' में अन्तर आयेगा ही कैसे! अतः जन्म और मृत्युका समाचार सुननेसे अन्तःकरणमें (माने हुए सम्बन्धके कारण) जो असर होता है, उसकी तरफ दृष्टि न रखकर इस 'ज्ञान' पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। इसी तरह अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

नेत्रेन्द्रिय अर्थात् नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति '**चक्षुः**' है। आजतक हमने अनेक सुन्दर, असुन्दर, मनोहर, भयानक रूप या दृश्य देखे हैं, पर उनसे अपने 'स्वरूप' में क्या फरक पड़ा?

स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचामें स्पर्श करनेकी शक्ति '**स्पर्शनम्**' है। जीवनमें हमारेको अनेक कोमल, कठोर, चिपचिपे, ठण्डे, गरम आदि स्पर्श प्राप्त हुए हैं, पर उनसे 'स्वयं' की स्थितिमें क्या अन्तर आया?

रसनेन्द्रिय अर्थात् जीभमें स्वाद लेनेकी शक्ति '**रसनम्**' है। कड़ुआ, तीखा, मीठा, कसैला, खट्टा और नमकीन—ये छः प्रकारके भोजनके रस हैं। आजतक हमने तरह-तरहके रसयुक्त भोजन किये हैं; पर विचार करना चाहिये कि उनसे 'स्वयं'को क्या प्राप्त हुआ?

घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिकामें सूँघनेकी शक्ति '**घ्राणम्**' है। जीवनमें हमारी नासिकाने तरह-तरहकी सुगन्ध और दुर्गन्ध ग्रहण की है; पर उनसे 'स्वयं' में क्या फरक पड़ा?

विशेष बात

श्रोत्रका वाणीसे, नेत्रका पैरसे, त्वचाका हाथसे, रसनाका उपस्थसे और घ्राणका गुदासे (पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका पाँचों कर्मेन्द्रियोंसे) घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे, जो जन्मसे बहरा होता है, वह गूँगा भी होता है। पैरके तलवेमें तेलकी मालिश करनेसे नेत्रोंपर तेलका असर पड़ता है। त्वचाके होनेसे ही हाथ स्पर्शका काम करते हैं। रसनेन्द्रियके वशमें होनेसे उपस्थेन्द्रिय भी वशमें हो जाती है। घ्राणसे गन्धका ग्रहण तथा उससे सम्बन्धित गुदासे गन्धका त्याग होता है।

पंचमहाभूतोंमें एक-एक महाभूतके सत्त्वगुण-अंशसे ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुण-अंशसे कर्मेन्द्रियाँ और तमोगुण-अंशसे शब्दादि पाँचों विषय बने हैं।

पंचमहाभूत	सत्त्वगुण-अंश	रजोगुण-अंश	तमोगुण-अंश
आकाश	श्रोत्र	वाक्	शब्द
वायु	त्वचा	हस्त	स्पर्श
अग्नि	नेत्र	पाद	रूप
जल	रसना	उपस्थ	रस
पृथ्वी	घ्राण	गुदा	गन्ध

***श्रवणेन्द्रियसे दो प्रकारका ज्ञान होता है—(१) अपरोक्ष शब्दका ज्ञान और (२) परोक्ष विषयका ज्ञान। इसलिये श्रवणकी बहुत महिमा है। ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—दोनों ही मार्गोंमें 'श्रवण' का मुख्य स्थान है। यद्यपि नेत्रोंसे शास्त्रोंका अवलोकन, अध्ययन करनेसे भी परोक्ष विषयका ज्ञान होता है, तथापि वास्तवमें वह भी (शब्दका ही लिखितरूप होनेसे) प्रकारान्तरसे शब्दकी शक्ति ही है। शास्त्रज्ञान भी जैसा (गुरुमुखसे) श्रवणसे होता है, वैसा पढ़नेसे नहीं। विद्याध्ययनमें भी पहले सुननेसे ही बोध होता है। शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है, जिसे श्रवणेन्द्रिय ही ग्रहण कर सकती है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं।**

पाँचों महाभूतोंके मिले हुए सत्त्वगुण-अंशसे मन और बुद्धि, रजोगुण-अंशसे प्राण और तमोगुण-अंशसे शरीर बना है।

'विषयानुपसेवते'—जैसे व्यापारी किसी कारणवश एक जगहसे दूकान उठाकर दूसरी जगह दूकान लगाता है, ऐसे ही जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है; और जैसे पहले शरीरमें विषयोंका रागपूर्वक सेवन करता था ऐसे ही दूसरे शरीरमें जानेपर (वही स्वभाव होनेसे) विषयोंका सेवन करने लगता है। इस प्रकार जीवात्मा बार-बार विषयोंमें आसक्ति करनेके कारण ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है।

भगवान्‌ने यह मनुष्यशरीर अपना उद्धार करनेके लिये दिया है, सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं। जैसे ब्राह्मणको गाय दान करनेपर हम उसको चारा-पानी तो दे सकते हैं, पर दी हुई गायका दूध पीनेका हमें हक नहीं है; ऐसे ही मिले हुए शरीरका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगनेका हमें हक नहीं है।

विशेष बात

विषय-सेवन करनेसे परिणाममें विषयोंमें राग-आसक्ति ही बढ़ती है, जो कि पुनर्जन्म तथा सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। विषयोंमें वस्तुतः सुख है भी नहीं। केवल आरम्भमें भ्रमवश सुख प्रतीत होता है (अठारहवें अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। अगर विषयोंमें सुख होता तो जिनके पास प्रचुर भोग-सामग्री है, ऐसे बड़े-बड़े धनी, भोगी और पदाधिकारी तो सुखी हो ही जाते, पर वास्तवमें देखा जाय तो पता चलता है कि वे भी दुःखी, अशान्त ही हैं। कारण यह है कि भोग-पदार्थोंमें सुख है ही नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। सुख लेनेकी इच्छासे जो-जो भोग भोगे गये, उन-उन भोगोंसे धैर्य नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग पैदा हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एवं प्रायः दुःख-शोक-उद्वेग आये—ऐसा यह परिणाम विचारशील व्यक्तिके प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।[1]

जिस प्रकार स्वप्नमें जल पीनेसे प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार भोग-पदार्थोंसे न तो शान्ति मिलती है और न जलन ही मिटती है। मनुष्य सोचता है कि इतना धन हो जाय, इतना संग्रह हो जाय, इतनी (अमुक-अमुक) वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ तो शान्ति मिल जायगी; किंतु उतना हो जानेपर भी शान्ति नहीं मिलती, उलटे वस्तुओंके मिलनेसे उनकी लालसा और बढ़ जाती है[2]। धन आदि भोग-पदार्थोंके मिलनेपर भी 'और मिल जाय, और मिल जाय'—यह क्रम चलता ही रहता है। परन्तु संसारमें जितना धन-धान्य है, जितनी सुन्दर स्त्रियाँ हैं, जितनी उत्तम वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब एक साथ किसी एक व्यक्तिको मिल भी जायँ, तो भी उनसे उसे तृप्ति नहीं हो सकती[3]। इसका कारण यह है कि जीव अविनाशी परमात्माका अंश तथा चेतन है और भोग-पदार्थ नाशवान् प्रकृतिके अंश तथा जड हैं। चेतनकी भूख जड पदार्थोंके द्वारा कैसे मिट सकती है? भूख है पेटमें और हलवा बाँधा जाय पीठपर, तो भूख कैसे मिट सकती है? प्यास लगनेपर बढ़िया-से-बढ़िया गरमागरम हलवा खानेपर भी प्यास नहीं मिट सकती। इसी प्रकार जीवको प्यास तो है चिन्मय परमात्माकी, पर वह उस प्यासको मिटाना चाहता है जड पदार्थोंके द्वारा, जिससे तृप्ति होनेकी नहीं। तृप्ति तो दूर रही, ज्यों-ज्यों वह जड पदार्थोंको अपनाता है, त्यों-त्यों उसकी भूख भी बढ़ती ही जाती है। यह उसकी कितनी बड़ी भूल है!

साधकको चाहिये कि वह आज ही यह दृढ़ विचार

१-भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

(भर्तृहरिवैराग्यशतक)

'हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमें भोग लिया; हमने तप नहीं किया, हम ही तप्त हो गये; काल व्यतीत नहीं हुआ, हम ही व्यतीत हो गये; तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये।'

२-न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(मनु० २। ९४; श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

'भोग-पदार्थोंके उपभोगसे कामना कभी शान्त नहीं होती, प्रत्युत जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, ऐसे ही भोग-वासना भी भोगोंके भोगनेसे प्रबल होती है।'

३-यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥

(विष्णुपुराण ४। १०। २४; महा०, आदि० ८५। १३)

(निश्चय) कर ले कि मेरेको भोगबुद्धिसे विषयोंका सेवन करना ही नहीं है। उसका यह पक्का निर्णय हो जाय कि सम्पूर्ण संसार मिलकर भी मेरेको तृप्त नहीं कर सकता। विषय-सेवन न करनेका दृढ़ विचार होनेसे इन्द्रियाँ निर्विषय हो जाती हैं; और इन्द्रियोंके निर्विषय हो जानेसे मन निर्विकल्प हो जाता है। मनके निर्विकल्प हो जानेसे बुद्धि स्वत: सम हो जाती है; और बुद्धिके सम हो जानेसे परमात्माकी प्राप्तिका स्वत: अनुभव हो जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक); क्योंकि परमात्मा तो सदा प्राप्त ही हैं। विषयोंमें प्रवृत्ति होनेके कारण ही उनकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो पाता।

सुखभोग और संग्रह—इन दोमें जो आसक्त हो जाते हैं, उनके लिये परमात्मप्राप्ति तो दूर रही, वे परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ़ निश्चय भी नहीं कर पाते (गीता—दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज श्रीरामचरितमानसके अन्तमें प्रार्थना करते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(मानस ७। १३०)

'जैसे कामीको स्त्री (भोग) और लोभीको धन (संग्रह) प्यारा लगता है, ऐसे ही रघुनाथका रूप और राम-नाम मुझे निरन्तर प्यारा लगे।' तात्पर्य यह है कि जैसे कामी स्त्रीके रूपमें आकृष्ट होता है, ऐसे ही मैं रघुनाथके रूपमें निरन्तर आकृष्ट रहूँ और जैसे लोभी धनका संग्रह करता रहता है, ऐसे ही मैं राम-नामका (जपके द्वारा) निरन्तर संग्रह करता रहूँ। संसारका भोग और संग्रह निरन्तर प्रिय नहीं लगता—यह नियम है; पर भगवान्‌का रूप और नाम निरन्तर प्रिय लगता है। संतोंने भी अपना अनुभव कहा है—

चाख चाख सब छाड़िया माया-रस खारा हो।
नाम-सुधारस पीजिये छिन बारंबारा हो॥
लगे मोहि राम पियारा हो॥

परिशिष्ट भाव—विषयोंका सेवन करनेसे स्वयंकी गौणता हो जाती है और शरीर-संसारकी मुख्यता हो जाती है। इसलिये स्वयं भी जगत्‌रूप हो जाता है (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)!

सम्बन्ध—पीछेके तीन श्लोकोंमें जीवात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है। उस विषयका उपसंहार करनेके लिये आगेके श्लोकमें 'जीवात्माके स्वरूपको कौन जानता है और कौन नहीं जानता'—इसका वर्णन करते हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

उत्क्रामन्तम्	= शरीरको छोड़कर जाते हुए	**भुञ्जानम्**	= विषयोंको भोगते हुए	**न**	= नहीं
वा	= या	**अपि**	= भी	**अनुपश्यन्ति**	= जानते,
स्थितम्	= दूसरे शरीरमें स्थित हुए	**गुणान्वितम्**	= गुणोंसे युक्त (जीवात्मा-के स्वरूप)-को	**ज्ञानचक्षुषः**	= ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही)
वा	= अथवा	**विमूढाः**	= मूढ़ मनुष्य	**पश्यन्ति**	= जानते हैं।

व्याख्या—**'उत्क्रामन्तम्'**—स्थूलशरीरको छोड़ते समय जीव सूक्ष्म और कारणशरीरको साथ लेकर प्रस्थान करता है। इसी क्रियाको यहाँ **'उत्क्रामन्तम्'** पदसे कहा है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीवका प्रस्थान नहीं माना जाता। हृदयकी धड़कन बंद हो जानेके बाद भी जीव कुछ समयतक रह सकता है। वास्तवमें अचल होनेसे शुद्ध चेतन-तत्त्वका आवागमन नहीं होता। प्राणोंका ही आवागमन होता है। परन्तु सूक्ष्म और कारणशरीरसे सम्बन्ध रहनेके कारण जीवका आवागमन कहा जाता है।

आठवें श्लोकमें ईश्वर बने जीवात्माके विषयमें आये **'उत्क्रामति'** पदको यहाँ **'उत्क्रामन्तम्'** पदसे कहा गया है।

'स्थितं वा'—जिस प्रकार कैमरेपर वस्तुका जैसा

प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है। इसी प्रकार मृत्युके समय अन्त:करणमें जिस भावका चिन्तन होता है, उसी आकारका सूक्ष्मशरीर बन जाता है। जैसे कैमरेपर पड़े प्रतिबिम्बके अनुसार चित्रके तैयार होनेमें समय लगता है, ऐसे ही अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार भावी स्थूलशरीरके बननेमें (शरीरके अनुसार कम या अधिक) समय लगता है।

आठवें श्लोकमें जिसका '**यदवाप्नोति**' पदसे वर्णन हुआ है, उसीको यहाँ '**स्थितम्**' पदसे कहा गया है।

'**अपि भुञ्जानं वा**'—मनुष्य जब विषयोंको भोगता है, तब अपनेको बड़ा सावधान मानता है और विषय-सेवनमें सावधान रहता भी है। विषयी मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इनमेंसे एक-एक विषयको अच्छी तरह जानता है। अपनी जानकारीसे एक-एक विषयको भी बड़ी स्पष्टतासे वर्णन करता है। इतनी सावधानी रखनेपर भी वह 'मूढ़' (अज्ञानी) ही है; क्योंकि विषयोंके प्रति यह सावधानी किसी कामकी नहीं है, प्रत्युत मरनेपर नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेवाली है।

परमात्मा, जीवात्मा और संसार—इन तीनोंके विषयमें शास्त्रों और दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं; परन्तु जीवात्मा संसारके सम्बन्धसे महान् दु:ख पाता है और परमात्माके सम्बन्धसे महान् सुख पाता है—इसमें सभी शास्त्र और दार्शनिक एकमत हैं।

संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता—यह अकाट्य नियम है। संसार क्षणभंगुर है—यह बात कहते, सुनते और पढ़ते हुए भी मूढ़ मनुष्य संसारको स्थिर मानते हैं। भोग-सामग्री, भोक्ता और भोगरूप क्रिया—इन सबको स्थायी माने बिना भोग हो ही नहीं सकता। भोगी मनुष्यकी बुद्धि इतनी मूढ़ हो जाती है कि वह 'इन भोगोंसे बढ़कर कुछ है ही नहीं'—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेता है (गीता—सोलहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। इसलिये ऐसे मनुष्योंके ज्ञाननेत्र बंद ही रहते हैं। वे मौतको निश्चित जानते हुए भी भोग भोगनेके लिये (मरनेवालोंके लोकमें रहते हुए भी) सदा जीते रहनेकी इच्छा रखते हैं।

'**अपि**' पदका भाव है कि जीवात्मा जिस समय स्थूल-शरीरसे निकलकर (सूक्ष्म और कारणशरीरसहित) जाता है, दूसरे शरीरको प्राप्त होता है तथा विषयोंका उपभोग करता है—इन तीनों ही अवस्थाओंमें गुणोंसे लिप्त दीखनेपर भी वास्तवमें वह स्वयं निर्लिप्त ही रहता है। वास्तविक स्वरूपमें न 'उत्क्रमण' है, न 'स्थिति' है और न 'भोक्तापन' ही है।

पिछले श्लोकके '**विषयानुपसेवते**' पदको ही यहाँ '**भुञ्जानम्**' पदसे कहा गया है।

'**गुणान्वितम्**'—यहाँ '**गुणान्वितम्**' पदका तात्पर्य यह है कि गुणोंसे सम्बन्ध मानते रहनेके कारण ही जीवात्मामें उत्क्रमण, स्थिति और भोग—ये तीनों क्रियाएँ प्रतीत होती हैं।

वास्तवमें आत्माका गुणोंसे सम्बन्ध है ही नहीं। भूलसे ही इसने अपना सम्बन्ध गुणोंसे मान रखा है, जिसके कारण इसे बारम्बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाना पड़ता है। गुणोंसे सम्बन्ध जोड़कर जीवात्मा संसारसे सुख चाहता है—यह उसकी भूल है। सुख लेनेके लिये शरीर भी अपना नहीं है, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है!

मनुष्य मानो किसी-न-किसी प्रकारसे संसारमें ही फँसना चाहता है! व्याख्यान देनेवाला व्यक्ति श्रोताओंको अपना मानने लग जाता है। किसीका भाई-बहन न हो, तो वह धर्मका भाई-बहन बना लेता है। किसीका पुत्र न हो, तो वह दूसरेका बालक गोद ले लेता है। इस तरह नये-नये सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य चाहता तो सुख है, पर पाता दु:ख ही है। इसी बातको भगवान् कह रहे हैं कि जीव स्वरूपसे गुणातीत होते हुए भी गुणों-(देश, काल, व्यक्ति, वस्तु-) से सम्बन्ध जोड़कर उनसे बँध जाता है।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें आये '**प्रकृतिस्थानि**' पदको ही यहाँ '**गुणान्वितम्**' पदसे कहा गया है।

मार्मिक बात

जबतक मनुष्यका प्रकृति अथवा उसके कार्य—गुणोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है, तबतक गुणोंके अधीन होकर उसे कर्म करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। चेतन होकर गुणोंके अधीन रहना अर्थात् जडकी परतन्त्रता स्वीकार करना व्यभिचार-दोष है। प्रकृति अथवा गुणोंसे सर्वथा मुक्त होनेपर जो स्वाधीनताका अनुभव होता है, उसमें भी साधक जबतक (अहम्‌की गन्ध रहनेके कारण) रस लेता है, तबतक व्यभिचार-दोष रहता ही है। रस न लेनेसे जब वह व्यभिचार-दोष मिट जाता है, तब अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रति स्वत: प्रियता जाग्रत् होती है। फिर प्रेम-ही-प्रेम रह जाता है, जो उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। इस प्रेमको प्राप्त करना ही जीवका अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रेमकी प्राप्तिमें ही पूर्णता है। भगवान् भी भक्तको अपना अलौकिक प्रेम देकर ही राजी होते हैं और ऐसे प्रेमी

भक्तको योगियोंमें सर्वश्रेष्ठ योगी मानते हैं (गीता—छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)।

गुणातीत होनेमें तो (स्वयंका विवेक सहायक होनेके कारण) अपने साधनका सम्बन्ध रहता है, पर गुणातीत होनेके बाद प्रेमकी प्राप्ति होनेमें भगवान्‌की कृपाका ही सम्बन्ध रहता है।

'विमूढा नानुपश्यन्ति'—जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्य करनेपर भी हम वही रहते हैं, ऐसे ही गुणोंसे युक्त होकर शरीरको छोड़ते, अन्य शरीरको प्राप्त होते तथा भोग भोगते समय भी 'स्वयं' (आत्मा) वही रहता है। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन क्रियाओंमें होता है, 'स्वयं' में नहीं। परन्तु जो भिन्न-भिन्न क्रियाओंके साथ मिलकर 'स्वयं' को भी भिन्न-भिन्न देखने लगता है (तीसरे अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), ऐसे अज्ञानी (तत्त्वको न जाननेवाले) मनुष्यके लिये यहाँ **'विमूढा नानुपश्यन्ति'** पद दिये गये हैं।

मूढ़लोग भोग और संग्रहमें इतने आसक्त रहते हैं कि शरीरादि पदार्थ नित्य रहनेवाले नहीं हैं—यह बात सोचते ही नहीं। भोग भोगनेका क्या परिणाम होगा उस ओर वे देखते ही नहीं। भगवान्‌ने गीताके सत्रहवें अध्यायमें जहाँ सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषोंको प्रिय लगनेवाले आहारोंका वर्णन किया है, वहाँ सात्त्विक आहारके परिणामका वर्णन पहले किया गया है; राजस आहारके परिणामका वर्णन अन्तमें किया गया है और तामस आहारके परिणामका वर्णन ही नहीं किया गया है (गीता—सत्रहवें अध्यायके आठवेंसे दसवें श्लोकतक)। इसका कारण यह है कि सात्त्विक मनुष्य कर्म करनेसे पहले उसके परिणाम-(फल-) पर दृष्टि रखता है; राजस मनुष्य पहले सहसा काम कर बैठता है, फिर परिणाम चाहे जैसा आये; परन्तु तामस मनुष्य तो परिणामकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। इसी प्रकार यहाँ भी **'विमूढा नानुपश्यन्ति'** पद देकर भगवान् मानो यह कहते हैं कि मोहग्रस्त मनुष्य तामस ही हैं; क्योंकि मोह तमोगुणका कार्य है। वे विषयोंका सेवन करते समय परिणामपर विचार ही नहीं करते। केवल भोग भोगने और संग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। ऐसे मनुष्योंका ज्ञान तमोगुणसे ढका रहता है। इस कारण वे शरीर और आत्माके भेदको नहीं जान सकते।

'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः'—प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति—कोई भी स्थिर नहीं है अर्थात् दृश्यमात्र निरन्तर अदर्शनमें जा रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होना ही ज्ञानरूप चक्षुओंसे देखना है। परिवर्तनकी ओर दृष्टि होनेसे अपरिवर्तनशील तत्त्वमें स्थिति स्वतः होती है; क्योंकि नित्य परिवर्तनशील पदार्थका अनुभव अपरिवर्तनशील तत्त्वको ही होता है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी मनुष्यका भी स्थूलशरीरसे निकलकर दूसरे शरीरको प्राप्त होना तथा भोग भोगना होता है। ज्ञानी मनुष्यका स्थूलशरीर तो छूटेगा ही, पर दूसरे शरीरको प्राप्त करना तथा रागबुद्धिसे विषयोंका सेवन करना उसके द्वारा नहीं होते। दूसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, परन्तु उस विषयमें ज्ञानी मनुष्य मोहित अथवा विकारको प्राप्त नहीं होता। कारण यह है कि वह ज्ञानी मनुष्य ज्ञानरूप नेत्रोंके द्वारा यह देखता है कि जन्म-मृत्यु आदि सब क्रियाएँ या विकार परिवर्तनशील शरीरमें ही हैं, अपरिवर्तनशील स्वरूपमें नहीं। स्वरूप इन विकारोंसे सब समय सर्वथा निर्लिप्त रहता है। शरीरको अपना मानने तथा उससे सुख लेनेकी आशा रखनेसे ही विमूढ़ मनुष्योंको तादात्म्यके कारण ये विकार स्वयंमें होते प्रतीत होते हैं। विमूढ़ मनुष्य आत्माको गुणोंसे युक्त देखते हैं और ज्ञाननेत्रोंवाले मनुष्य आत्माको गुणोंसे रहित—वास्तविक रूपसे देखते हैं।

परिशिष्ट भाव—गुणोंके साथ सम्बन्ध माननेसे जीव 'गुणान्वित' हो जाता है। अगर सम्बन्ध न माने तो वह निर्गुण (तीनों गुणोंसे रहित) ही है—**'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्'** (गीता १३। ३१)। इसका आशय यह है कि गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे ही जन्म-मरण होते हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। यद्यपि अपनी अवनति कोई नहीं चाहता, तथापि सुखासक्तिके कारण जीवको पता ही नहीं लगता कि मेरी उन्नति किसमें है। वह नाशवान् पदार्थोंके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है, जिसका परिणाम महान् अवनति होता है।

शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना और विषयोंको भोगना—तीनों क्रियाएँ अलग-अलग हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा एक ही है—यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी अविवेकी मनुष्य इसको नहीं जानता अर्थात् अपने अनुभवकी तरफ नहीं देखता, उसको महत्त्व नहीं देता। तीनों गुणोंसे मोहित रहनेके कारण बेहोश रहता है (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। जीवात्मा किसी भी अवस्थाके साथ निरन्तर नहीं रहता—यह सबका अनुभव है। इसकी निर्लिप्तता स्वतःसिद्ध है।

भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें पाँच क्रियाएँ बतायी हैं—सुनना, देखना, स्पर्श करना, स्वाद लेना तथा सूँघना और इस श्लोकमें तीन क्रियाएँ बतायी हैं—शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना तथा विषयोंको भोगना। इन आठोंमें कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती, पर स्वयं निरन्तर रहता है। क्रियाएँ तो आठ हैं, पर इन सबमें स्वयं एक ही रहता है। इसलिये इनके भाव और अभावका, आरम्भ और अन्तका ज्ञान सबको होता है। जिसको आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है, वह स्वयं नित्य होता है।

शरीरका, पदार्थोंका, हरेक भोगका संयोग और वियोग होता है। अनेक अवस्थाओंमें स्वयं एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओंमें जाता है। अगर स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओंका अलग-अलग अनुभव कौन करता? परन्तु ऐसी बात प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरफ नहीं देखते, प्रत्युत ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले योगी मनुष्य ही देखते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित तत्त्वको जो पुरुष यत्न करनेपर जानते हैं, उनमें क्या विशेषता है; और जो यत्न करनेपर भी नहीं जानते, उनमें क्या कमी है—इसको आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यतन्तः	= यत्न करनेवाले	**पश्यन्ति**	= अनुभव करते हैं।	**अचेतसः**	= अविवेकी मनुष्य
योगिनः	= योगीलोग	**च**	= परन्तु	**यतन्तः**	= यत्न करनेपर
आत्मनि	= अपने-आपमें	**अकृतात्मानः**	= जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, (ऐसे)	**अपि**	= भी
अवस्थितम्	= स्थित			**एनम्**	= इस तत्त्वका
एनम्	= इस परमात्मतत्त्वका			**न, पश्यन्ति**	= अनुभव नहीं करते।

व्याख्या—'**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्ति**'—यहाँ '**योगिनः**' पद उन सांख्ययोगी साधकोंका वाचक है, जिनका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका बन चुका है।

यहाँ '**यतन्तः**' पद साधनपरक है। भीतरकी लगन, जिसे पूर्ण किये बिना चैनसे न रहा जाय, यत्न कहलाती है।

जिन साधकोंका एकमात्र उद्देश्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, उनमें असंगता, निर्ममता और निष्कामता स्वतः आ जाती है। उद्देश्यकी पूर्तिके लिये अनन्यभावसे जो उत्कण्ठा, तत्परता, व्याकुलता, विरहयुक्त चिन्तन, प्रार्थना एवं विचार साधकके हृदयमें प्रकट होते हैं, उन सबको यहाँ '**यतन्तः**' पदके अन्तर्गत समझना चाहिये। जिसकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाया और जिसकी विमुखताको यत्नके द्वारा दूर किया, उसी तत्त्वका योगिजन अपने-आपमें अनुभव करते हैं। परमात्माके पूर्ण सम्मुख हो जानेके बाद योगीकी परमात्मतत्त्वमें सदा सहज स्थिति रहती है। यही '**पश्यन्ति**' पदका भाव है।

जो सांख्ययोगी साधक सत्-असत्‌के विचारद्वारा सत्-तत्त्वकी प्राप्ति और असत् संसारकी निवृत्ति करना चाहते हैं, विवेककी सर्वथा जागृति होनेपर वे अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेते हैं।

'**आत्मन्यवस्थितम्**' परमात्मतत्त्वसे देश-कालकी दूरी नहीं है। वह समानरूपसे सर्वत्र एवं सदैव विद्यमान है। वही सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा है—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' (गीता १०। २०)। इसलिये योगीलोग अपने-आपमें ही इस तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं।

सत्ता (अस्तित्व या 'है'-पन) दो प्रकारकी होती है—(१) विकारी और (२) स्वतःसिद्ध। जो सत्ता उत्पन्न होनेके बाद प्रतीत होती है, वह 'विकारी' सत्ता कहलाती है और जो सत्ता कभी उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत सदा (अनादिकालसे) ज्यों-की-त्यों रहती है, वह 'स्वतःसिद्ध' सत्ता कहलाती है। इस दृष्टिसे संसार एवं शरीरकी सत्ता 'विकारी' और परमात्मा एवं आत्माकी सत्ता 'स्वतःसिद्ध' है। विकारी सत्ताको स्वतःसिद्ध सत्तामें मिला देना भूल है।* उत्पन्न हुई विकारी सत्तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके अनुत्पन्न स्वतःसिद्ध सत्तामें स्थित होना ही '**आत्मनि अवस्थितम्**' पदोंका भाव है।

*** विकारी सत्ता-(शरीर-) को स्वतःसिद्ध सत्तामें मिलानेका तात्पर्य है—अपनेको शरीर मानना (अहंता) और शरीरको अपना मानना (ममता)। अपनेको शरीर माननेसे शरीर सत्य प्रतीत होता है और शरीरको अपना माननेसे शरीरमें प्रियता होती है।**

जीव-(चेतन-)ने भगवत्प्रदत्त विवेकका अनादर करके शरीर-(जड-) को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया अर्थात् शरीरसे अपना सम्बन्ध मान लिया। जीवके बन्धनका कारण यह माना हुआ सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि मरनेपर भी छूटता नहीं और कच्चा इतना है कि जब चाहे, तब छोड़ा जा सकता है। किसीसे अपना सम्बन्ध जोड़ने अथवा तोड़नेमें जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। इसी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके जीव शरीरादि विजातीय पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है।

अपने विवेक-(शरीरसे अपनी भिन्नताका ज्ञान-) को महत्त्व न देनेसे विवेक दब जाता है। विवेकके दबनेपर शरीर-(जड-तत्त्व) की प्रधानता हो जाती है और वह सत्य प्रतीत होने लगता है। सत्संग, स्वाध्याय आदिसे जैसे-जैसे विवेक विकसित होता है, वैसे-वैसे शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध छूटता चला जाता है। विवेक जाग्रत् होनेपर परमात्मा-(चिन्मय-तत्त्व-) से अपने वास्तविक सम्बन्धका—उसमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही '**आत्मनि अवस्थितम्**' पदोंका भाव है।

विकारी सत्ता-(संसार-)के सम्बन्धसे अहंता-('मैं'-पन) की उत्पत्ति होती है। यह अहंता दो प्रकारसे मानी जाती है—(१) श्रवणसे मानना; जैसे—दूसरोंसे सुनकर 'मैं अमुक नामवाला हूँ', 'मैं अमुक वर्णवाला हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं (२) क्रियासे मानना; जैसे—व्याख्यान देना, शिक्षा देना, चिकित्सा करना आदि क्रियाओंसे 'मैं वक्ता हूँ','मैं शिक्षक हूँ', 'मैं चिकित्सक हूँ' आदि अहंता मान लेते हैं। ये दोनों ही प्रकारकी अहंता सदा रहनेवाली नहीं है, जब कि 'है'-रूप स्वत:सिद्ध सत्ता सदा रहनेवाली है। 'मैं'- रूपमें मानी हुई अहंताका त्याग होनेपर 'हूँ'-रूप विकारी सत्ताका भी स्वत: त्याग हो जाता है और योगीको 'है'-रूप स्वत:सिद्ध सत्तामें अपनी स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही अपने-आपमें तत्त्वका अनुभव करना है।

मार्मिक बात

(१)

देश-काल आदिकी अपेक्षासे कहे जानेवाले 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—इन चारोंके मूलमें 'है' के रूपमें एक ही परमात्मतत्त्व समानरूपसे विद्यमान है, जो इन चारोंका प्रकाशक और आधार है। 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों निरन्तर परिवर्तनशील हैं और 'है' नित्य अपरिवर्तनशील है। इनमें 'तू है', 'यह है' और 'वह है'—ऐसा तो कहा जाता है, पर 'मैं है'—ऐसा न कहकर 'मैं हूँ' कहा जाता है। कारण यह है कि 'मैं हूँ' में 'हूँ' 'मैं'-पनके कारण आया है। जबतक 'मैं'-पन है, तभीतक 'हूँ' के रूपमें एकदेशीयता या परिच्छिन्नता है। 'मैं'-पनके मिटनेपर एक 'है' ही शेष रह जाता है।

'**आत्मनि अवस्थितम्**'का तात्पर्य यह है कि 'हूँ' में 'है' और 'है' में 'हूँ' स्थित है। दूसरे शब्दोंमें व्यष्टिमें समष्टि और समष्टिमें व्यष्टि स्थित है। जिस प्रकार समुद्र और लहरें दोनों एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार 'है' और 'हूँ' दोनों एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते। परन्तु जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र और लहरें—ये दोनों ही नहीं हैं (वास्तवमें एक ही जल-तत्त्व है), ऐसे ही परमात्मतत्त्व ('है') में 'हूँ' और 'है'—ये दोनों ही नहीं हैं। ऐसा अनुभव करना ही अपने-आप-(स्वयं-) में स्थित तत्त्वका अनुभव करना है।

'मैं'-पनके कारण (संसारमें सुखासक्ति तथा परमात्मासे विमुखता होनेसे) ही परमात्माका अपने-आपमें अनुभव नहीं होता। इसलिये परमात्माको अपने-आपसे भिन्नमें देखनेके कारण उससे दूरी या वियोगका अनुभव करना पड़ता है और उसकी प्राप्तिके लिये जगह-जगह भटकना पड़ता है। अपने-आपसे भिन्न जितने पदार्थ हैं, उनसे वियोग होना अवश्यम्भावी है। परन्तु अपने-आपमें परमात्माका अनुभव करनेवालेको उससे अपनी दूरी या वियोगका अनुभव नहीं करना पड़ता*।

अपने-आपमें परमात्माको देखना भिन्नता-(द्वैतभाव-) का पोषक नहीं, प्रत्युत भिन्नताका नाशक है। वास्तवमें 'मैं'-पन ही भिन्नताका पोषक है। मनुष्यने भिन्नताके वाचक 'मैं'-पन अथवा परिच्छिन्नता, पराधीनता, अभाव, अज्ञान आदि विकारोंको भूलसे अपने-आपमें ही मान लिया है। इनको दूर करनेके लिये परमात्माको अपने-आपमें देखना है। इन विकारोंका नाश अपने-आपमें परमात्माको देखनेपर ही हो सकता है। ये विकार तभीतक हैं, जबतक साधक 'हूँ' को देखता (मानता) है, 'है'को नहीं। इस 'हूँ'के स्थानपर 'है'को देखनेपर कोई विकार नहीं रहता; क्योंकि 'है' में किंचिन्मात्र भी विकार नहीं है।

संसार बदलनेवाला है। संसारका ही अंश होनेके कारण 'मैं' भी बदलनेवाला है, जैसे—'मैं बालक हूँ', 'मैं युवा

---

* **तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ (कठ० २। २। १३; श्वेताश्वतर० ६। १२)**

'अपने-आपमें स्थित (आत्मस्थ) परमात्माको जो ज्ञानी मनुष्य निरन्तर देखते रहते हैं, उनको ही सदा रहनेवाला सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

हूँ', 'मैं वृद्ध हूँ', 'मैं रोगी हूँ', 'मैं नीरोग हूँ' इत्यादि।[1] संसारकी तरह 'मैं' भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है। जैसे संसार नहीं है, ऐसे ही 'मैं' भी नहीं है।

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

'है' सदा है और 'नहीं' कभी नहीं है। 'है' दीखनेमें नहीं आता, पर 'नहीं' दीखनेमें आता है; क्योंकि जिसके द्वारा हम 'नहीं' को देखते हैं, वे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि भी 'नहीं' के अंश हैं। त्रिपुटीमें देखना सजातीयतामें ही होता है अर्थात् त्रिपुटीसे होनेवाले (करण-सापेक्ष) ज्ञानमें सजातीयताका होना आवश्यक है। अत: 'नहीं' के द्वारा 'नहीं' को ही देखा जा सकता है, 'है' को नहीं। 'है' का ज्ञान त्रिपुटीसे रहित (करण-निरपेक्ष) है।

'नहीं' की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी 'है' की सत्तासे ही उसकी सत्ता दीखती है। 'है' ही 'नहीं' का प्रकाशक और आधार है। जिस प्रकार नेत्रसे संसारको तो देख सकते हैं, पर नेत्रसे नेत्रको नहीं देखते; क्योंकि जिससे देखते हैं, वह नेत्र है। इसी प्रकार जो सबको जाननेवाला है, उस परमात्माको कैसे और किसके द्वारा जाना जा सकता है **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।'** (बृहदारण्यक० २। ४। १४)? जो 'है' से प्रकाशित होता है, वह ('नहीं') 'है' को कैसे प्रकाशित कर सकता है?

अपने-आपमें स्थित तत्त्व-('है'-) का अनुभव अपने-आप-('है'-) से ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि-('नहीं'-) से बिलकुल नहीं। अपने-आपसे होनेवाला ज्ञान स्वाधीन और दूसरों-(मन, बुद्धि आदि-) से होनेवाला ज्ञान पराधीन होता है। अपने-आपमें स्थित तत्त्वका अनुभव करनेके लिये किसी दूसरेकी सहायता लेनेकी जरूरत भी नहीं है।

कानोंसे सुनने, मनसे मनन करने, बुद्धिसे विचार करने आदि उपायोंसे कोई तत्त्वको नहीं जान सकता[2]। कारण कि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिके कार्यसे उस तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है? अत: प्रकृतिके कार्यका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) करनेपर ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है और वह अपने-आपमें ही होती है।

साधकसे सबसे बड़ी गलती यह होती है कि वह जिस रीतिसे संसारको जानता है, उसी रीतिसे परमात्माको भी जानना चाहता है। परन्तु संसार और परमात्मा—दोनोंको जाननेकी रीति एक-दूसरेसे विरुद्ध है। संसारको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जाना जाता है; क्योंकि उसकी जानकारी करण-सापेक्ष है; परन्तु परमात्माको इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्योंकि उसकी जानकारी करण-निरपेक्ष है।

जडताके आश्रयसे चिन्मयतामें स्थितिका अनुभव हो ही नहीं सकता। जडता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर)-का आश्रय लेकर जो परमात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहते हैं, वे पुरुष समाधि लगाकर भी परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते; क्योंकि समाधि भी कारण-शरीरके आश्रित रहती है[3]।

१-यहाँ शंका हो सकती है कि बालक, युवा आदि अवस्थाएँ तो बदल गयीं, पर 'मैं तो वही हूँ' अर्थात् 'मैं' तो नहीं बदला। समाधान यह है कि 'विकारी' सत्ता-(जड-) को 'स्वत:सिद्ध' सत्ता-(चेतन-) में मिला देनेके कारण ही 'मैं' में परिवर्तन नहीं दीखता। वास्तवमें 'मैं' का प्रकाशक ('स्वयं') वही रहता है, 'मैं' वही नहीं रहता। 'मैं बालक हूँ' में जो 'मैं' है, वह 'मैं युवा हूँ' में नहीं है। अवस्थाओंके साथ सूक्ष्मरूपसे 'मैं' भी बदलता है। इसी प्रकार अन्य शरीरकी प्राप्ति (दूसरा जन्म) होनेपर भी पहले शरीरका 'मैं' तो नहीं रहता, पर सत्ता रहती है (गीता—दूसरे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

'स्वत:सिद्ध' सत्ताको लेकर 'मैं वही हूँ' कहा जाता है और 'विकारी' सत्ताको लेकर 'मैं बदल गया' कहा जाता है।

२-(१) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (कठ० १। २। २३; मुण्डक० ३। २। ३)

'यह परमात्मतत्त्व न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है।'

(२) नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। (कठ० २। ३। १२)

'यह परमात्मतत्त्व न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रोंसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

३-स्थूलशरीरसे 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे 'चिन्तन' तथा कारणशरीरसे 'समाधि' होती है।

कारणशरीर तथा उससे होनेवाली समाधि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाकी अपेक्षा विशिष्ट होनेपर भी सूक्ष्मरूपसे निरन्तर क्रियाशील रहती है। इस कारणशरीरसे भी अतीत होनेपर एकमात्र तत्त्व शेष रह जाता है। यही क्रिया और अक्रिया—दोनोंसे अतीत, सदा अखण्ड रहनेवाली 'स्वरूपकी समाधि' है। कारणशरीरसे होनेवाली समाधिमें तो व्युत्थान होता है, पर 'स्वरूपकी समाधि' अर्थात् स्वत:सिद्ध स्वरूपका बोध होनेपर समाधि तथा व्युत्थान दोनों ही नहीं होते। इसको 'निर्बीज समाधि' भी कहते हैं; क्योंकि इसमें संसारका सम्बन्ध (बीज) सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसको 'सहजावस्था' भी कहते हैं। परन्तु वास्तवमें यह अवस्था नहीं है; प्रत्युत अवस्थासे अतीत है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती।

जो परमात्माको अपना तथा अपनेको परमात्माका जानते हैं, वे ज्ञानरूप नेत्रोंवाले योगीलोग शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको अलग करके अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेते हैं। परन्तु जो शरीरको अपना और अपनेको शरीरका मानते हैं, वे विमूढ़ और अकृतात्मा पुरुष शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा यत्न करनेपर भी अपने-आपमें स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते।

(२)

'आत्मनि अवस्थितम्' पदोंमें भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मामें स्थित (सर्वव्यापी) बताया है। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको ये चार बातें दृढ़तापूर्वक मान लेनी चाहिये—

१. परमात्मा यहाँ हैं।

२. परमात्मा अभी हैं।

३. परमात्मा अपनेमें हैं।

४. परमात्मा अपने हैं।

परमात्मा सब जगह (सर्वव्यापी) होनेसे यहाँ भी हैं; सब समय (तीनों कालोंमें) होनेसे अभी भी हैं; सबमें होनेसे अपनेमें भी हैं; और सबके होनेसे अपने भी हैं। इस दृष्टिसे परमात्मा यहाँ होनेसे उनको प्राप्त करनेके लिये दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है; अभी होनेसे उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है; अपनेमें होनेसे उन्हें बाहर ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है; और अपने होनेसे उनके सिवाय किसीको भी अपना माननेकी आवश्यकता नहीं है। अपने होनेसे वे स्वाभाविक ही अत्यन्त प्रिय लगेंगे!

प्रत्येक साधकके लिये उपर्युक्त चारों बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और तत्काल लाभदायक हैं। साधकको ये चारों बातें दृढ़तासे मान लेनी चाहिये। समस्त साधनोंका यह सार साधन है। इसमें किसी योग्यता, अभ्यास, गुण आदिकी भी जरूरत नहीं है। ये बातें स्वत:सिद्ध और वास्तविक हैं, इसलिये इसको माननेके लिये सभी योग्य हैं, सभी पात्र हैं, सभी समर्थ हैं। शर्त यही है कि वे एकमात्र परमात्माको ही चाहते हों।

'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः'—जिन्होंने अपना अन्त:करण शुद्ध नहीं किया है, उन पुरुषोंको यहाँ **'अकृतात्मानः'** कहा गया है। सत्-असत्‌के ज्ञान-(विवेक-)को महत्त्व न देनेके कारण ऐसे पुरुषोंको **'अचेतसः'** कहा गया है।

जिनके अन्त:करणमें संसारके व्यक्ति, पदार्थ आदिका महत्त्व बना हुआ है और जो शरीरादिको अपना मानते हुए उनसे सुख-भोगकी आशा रखते हैं, ऐसे सभी पुरुष **'अकृतात्मानः'** और **'अचेतसः'** हैं। ऐसे पुरुष तत्त्वकी प्राप्ति तो चाहते हैं, पर वे शरीर, मन, बुद्धि आदि जड (प्राकृत) पदार्थोंकी सहायतासे चेतन परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहते हैं। परमात्मा जड पदार्थोंकी सहायतासे नहीं, प्रत्युत जडताके त्याग-(सम्बन्ध-विच्छेद-) से मिलते हैं।

इस श्लोकमें **'यतन्तः'** पद दो बार आया है। भाव यह है कि यत्न करनेमें समानता होनेपर भी एक (ज्ञानी) पुरुष तो तत्त्वका अनुभव कर लेता है, दूसरा (मूढ़) नहीं कर पाता। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके द्वारा किया गया यत्न तत्त्वप्राप्तिमें सहायक होनेपर भी अन्त:करण-(जडता-)के साथ सम्बन्ध बने रहनेके कारण और अन्त:करणमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व रहनेके कारण (यत्न करनेपर भी) तत्त्वको प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिनकी दृष्टि असत्-(सांसारिक भोग और संग्रह-) पर ही जमी हुई है, ऐसे पुरुष सत्-(तत्त्व-) को कैसे देख सकते हैं!

अकृतात्मा और अचेतस पुरुष करनेमें तो ध्यान, स्वाध्याय, जप आदि सब कुछ करते हैं, पर अन्त:करणमें जडता-(सांसारिक भोग और संग्रह-) का महत्त्व रहनेके कारण उन्हें तत्त्वका अनुभव नहीं होता। यद्यपि ऐसे पुरुषोंके द्वारा किया गया यत्न भी निष्फल नहीं जाता, तथापि तत्त्वका अनुभव उन्हें वर्तमानमें नहीं होता। वर्तमानमें तत्त्वका अनुभव जडताका सर्वथा त्याग होनेपर ही हो सकता है।

जिसका आश्रय लिया जाय, उसका त्याग नहीं हो सकता—यह नियम है। अत: शरीर, मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंका आश्रय लेकर साधक जडताका त्याग नहीं कर सकता। इसके सिवाय मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंको लेकर साधन करनेवालेमें सूक्ष्म अहंकार बना रहता है, जो जडताका त्याग होनेपर ही निवृत्त होता है। जडताका त्याग करनेका सुगम उपाय है—एकमात्र भगवान्‌का आश्रय लेना अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेना; इसपर अटल विश्वास कर लेना। इसके लिये यत्न या अभ्यास करनेकी भी जरूरत नहीं है। वास्तविक बातको दृढ़तापूर्वक स्वीकारमात्र कर लेनेकी जरूरत है।

परिशिष्ट भाव—सदा न भोग साथ रहता है, न संग्रह साथ रहता है—यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। परन्तु जो मनुष्य शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, साधन करते हुए भी अपने विवेककी तरफ ध्यान नहीं देते, भोग और संग्रहसे अलगावका अनुभव नहीं करते, वे मनुष्य '**अकृतात्मा**' हैं। ऐसे मनुष्योंको अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**अकृतबुद्धि**' और '**दुर्मति**' कहा गया है। यद्यपि परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतरमें राग, आसक्ति, सुखबुद्धि पड़ी रहनेसे वे साधन करते हुए भी परमात्माको नहीं जानते। कारण कि भोग और संग्रहमें रुचि रखनेवालेका विवेक ठहरता नहीं।

पूर्वश्लोकमें जिनको '**विमूढाः**' कहा है, उनको यहाँ '**अचेतसः**' कहा है, गुणोंसे मोहित होनेके कारण वे न तो विषयोंके विभागको जानते हैं और न स्वयंके विभागको ही जानते हैं अर्थात् भोगोंका संयोग-वियोग अलग है और स्वयं भी अलग है—यह नहीं जानते।

सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें भगवान् यह बताना चाहते हैं कि मेरा अंश जीवात्मा बिलकुल अलग है और जिस सामग्री (शरीरादि पदार्थ और क्रिया)-को वह भूलसे अपनी मानता है, वह बिलकुल अलग है—'**प्रकृतिस्थानि**'। सूर्य और अमावस्याकी रात्रिकी तरह दोनोंका विभाग ही अलग-अलग है। उनका परस्पर संयोग होना सम्भव ही नहीं है। जो उपर्युक्त जड़ और चेतन—दोनोंके विभागको सर्वथा अलग-अलग देखता है, वही ज्ञानी और योगी है। परन्तु जो दोनोंको मिला हुआ देखता है, वह अज्ञानी और भोगी है।

सम्बन्ध—पंद्रहवें अध्यायमें पाँच-पाँच श्लोकोंके चार प्रकरण हैं। उनमेंसे यह तीसरा प्रकरण बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतकका है, जिसमें छठा श्लोक भी लेनेसे पाँच श्लोक पूरे हो जाते हैं। यह तीसरा प्रकरण विशेषरूपसे भगवान्‌के प्रभाव और महत्त्वको प्रकट करनेवाला है। छठे श्लोकमें जो विषय (परमधामको सूर्य, चन्द्र और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते) स्पष्ट नहीं हो पाया था, उसीका स्पष्ट विवेचन अब भगवान् आगेके श्लोकमें करते हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

आदित्यगतम्	= सूर्यको प्राप्त हुआ	**जगत्**	= जगत्‌को	**यत्**	= जो तेज
यत्	= जो	**भासयते**	= प्रकाशित करता है (और)	**अग्नौ**	= अग्निमें है,
तेजः	= तेज	**यत्**	= जो तेज	**तत्**	= उस
अखिलम्	= सम्पूर्ण	**चन्द्रमसि**	= चन्द्रमामें है	**तेजः**	= तेजको
		च	= तथा	**मामकम्**	= मेरा ही
				विद्धि	= जान।

व्याख्या—[प्रभाव और महत्त्वकी ओर आकर्षित होना जीवका स्वभाव है। प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धसे जीव प्राकृत पदार्थोंके प्रभावसे प्रभावित हो जाता है। कारण यह है कि प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण जीवको प्राकृत पदार्थों-(शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि-) का महत्त्व दीखने लगता है, भगवान्‌का नहीं। अतः जीवपर पड़े प्राकृत पदार्थोंका प्रभाव हटानेके लिये भगवान् अपने प्रभावका वर्णन करते हुए यह रहस्य प्रकट करते हैं कि उन प्राकृत पदार्थोंमें जो प्रभाव और महत्त्व देखनेमें आता है, वह वस्तुतः (मूलमें) मेरा ही है, उनका नहीं। सर्वोपरि प्रभावशाली मैं ही हूँ। मेरे ही प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं।]

'**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्**'—जैसे भगवान्‌ने (गीता—दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें) कामनाओंको '**मनोगतान्**' बताया है, ऐसे ही यहाँ तेजको '**आदित्यगतम्**' बताते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे मनमें स्थित कामनाएँ मनका धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक हैं, ऐसे ही सूर्यमें स्थित तेज सूर्यका धर्म या स्वरूप न होकर आगन्तुक है अर्थात् वह तेज सूर्यका अपना न होकर (भगवान्‌से) आया हुआ है।

सूर्यका तेज (प्रकाश) इतना महान् है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उससे प्रकाशित होता है। ऐसा वह तेज सूर्यका दीखनेपर भी वास्तवमें भगवान्‌का ही है। इसलिये सूर्य भगवान्‌को या उनके परमधामको प्रकाशित नहीं कर सकता। महर्षि पतंजलि कहते हैं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

(योगदर्शन १। २६)

'ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है।'

सम्पूर्ण भौतिक जगत्‌में सूर्यके समान प्रत्यक्ष प्रभावशाली पदार्थ कोई नहीं है। चन्द्र, अग्नि , तारे, विद्युत् आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, वे सभी सूर्यसे ही प्रकाश पाते हैं। भगवान्‌से मिले हुए तेजके कारण जब सूर्य इतना विलक्षण और प्रभावशाली है, तब स्वयं भगवान् कितने विलक्षण और प्रभावशाली होंगे! ऐसा विचार करनेपर स्वत: भगवान्‌की तरफ आकर्षण होता है।

सूर्य 'नेत्रों'का अधिष्ठातृ-देवता है। अत: नेत्रोंमें जो प्रकाश (देखनेकी शक्ति) है वह भी परम्परासे भगवान्‌से ही आयी हुई समझनी चाहिये।

'यच्चन्द्रमसि'—जैसे सूर्यमें स्थित प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति—दोनों ही भगवान्‌से प्राप्त (आगत) हैं, ऐसे ही चन्द्रमाकी प्रकाशिका शक्ति और पोषण शक्ति—दोनों (सूर्यद्वारा प्राप्त होनेपर भी परम्परासे) भगवत्प्रदत्त ही हैं। जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, ऐसे ही उनका तेज 'चन्द्रगत' भी समझना चाहिये। चन्द्रमामें प्रकाशके साथ शीतलता, मधुरता, पोषणता आदि जो भी गुण हैं, वह सब भगवान्‌का ही प्रभाव है।

यहाँ चन्द्रमाको तारे, नक्षत्र आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।

चन्द्रमा 'मन' का अधिष्ठातृ-देवता है। अत: मनमें जो प्रकाश (मनन करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌से ही आयी हुई समझनी चाहिये।

'यच्चाग्नौ'—जैसे भगवान्‌का तेज 'आदित्यगत' है, ऐसे ही उनका तेज 'अग्निगत' भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अग्निकी प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति—दोनों भगवान्‌की ही हैं, अग्निकी नहीं।

यहाँ अग्निको विद्युत्, दीपक, जुगनू आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।

अग्नि 'वाणी'का अधिष्ठातृ-देवता है। अत: वाणीमें जो प्रकाश (अर्थप्रकाश करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परासे भगवान्‌से ही आयी हुई समझनी चाहिये।

'तत्तेजो विद्धि मामकम्'—जो तेज सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें है और जो तेज इन तीनोंके प्रकाशसे प्रकाशित अन्य पदार्थों (तारे, नक्षत्र, विद्युत्, जुगनू आदि)-में देखने तथा सुननेमें आता है, उसे भगवान्‌का ही तेज समझना चाहिये।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् यह कह रहे हैं कि मनुष्य जिस-जिस तेजस्वी पदार्थकी तरफ आकर्षित होता है, उस-उस पदार्थमें उसको मेरा ही प्रभाव देखना चाहिये (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। जैसे बूँदीके लड्डूमें जो मिठास है, वह उसकी अपनी न होकर चीनीकी ही है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें जो तेज है, वह उनका अपना न होकर भगवान्‌का ही है। भगवान्‌के प्रकाशसे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (कठोपनिषद् २। २। १५)। वह सम्पूर्ण ज्योतियोंकी भी ज्योति है—**'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** (गीता १३। १७)।

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि क्रमश: नेत्र, मन और वाणीके अधिष्ठाता एवं उनको प्रकाशित करनेवाले हैं। मनुष्य अपने भावोंको प्रकट करने और समझनेके लिये नेत्र, मन (अन्त:करण) और वाणी—इन तीन इन्द्रियोंका ही उपयोग करता है। ये तीन इन्द्रियाँ जितना प्रकाश करती हैं, उतना प्रकाश अन्य इन्द्रियाँ नहीं करतीं। प्रकाशका तात्पर्य है—अलग-अलग ज्ञान कराना। नेत्र और वाणी बाहरी करण हैं तथा मन भीतरी करण है। करणोंके द्वारा वस्तुका ज्ञान होता है। ये तीनों ही करण (इन्द्रियाँ) भगवान्‌को प्रकाशित नहीं कर सकते; क्योंकि इनमें जो तेज या प्रकाश है, वह इनका अपना न होकर भगवान्‌का ही है।

परिशिष्ट भाव—परमात्मा ही सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं। इस विषयमें केनोपनिषद्‌की एक कथा है। एक बार परमात्माने देवताओंके लिये असुरोंपर विजय प्राप्त की। परन्तु इस विजयमें देवताओंने अपनी शक्तिका अभिमान कर लिया। वे समझने लगे हमने ही अपनी शक्तिसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है। देवताओंके इस अभिमानको नष्ट करनेके लिये परमात्मा यक्षका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हो गये। यक्षको देखकर देवतालोग आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगे कि यह यक्ष कौन है? उसका परिचय जाननेके लिये देवताओंने अग्निदेवको उसके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर अग्निदेवने कहा कि मैं 'जातवेदा' नामसे प्रसिद्ध अग्निदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको जला दो। अग्निदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं जला सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि वह यक्ष कौन है—यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने वायुदेवको यक्षके पास भेजा। यक्षके

पूछनेपर वायुदेवने कहा कि मैं 'मातरिश्वा' नामसे प्रसिद्ध वायुदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको उड़ा सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने भी एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको उड़ा दो। वायुदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं उड़ा सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि मैं उस यक्षको नहीं जान सका। तब देवताओंने इन्द्रको उस यक्षका परिचय जाननेके लिये भेजा। परन्तु इन्द्रके वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया और उस जगह हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयीं। इन्द्रके पूछनेपर उमादेवीने कहा कि स्वयं परमात्मा ही तुमलोगोंका अभिमान दूर करनेके लिये यक्षरूपसे प्रकट हुए थे। तात्पर्य है कि सृष्टिमें जो भी बलवत्ता, विशेषता, विलक्षणता देखनेमें आती है, वह सब परमात्मासे ही आयी हुई है (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—दृश्य (दीखनेवाले) पदार्थोंमें अपना प्रभाव बतानेके बाद अब भगवान् आगेके श्लोकमें जिस शक्तिसे समष्टि-जगत्में क्रियाएँ हो रही हैं, उस समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव प्रकट करते हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहम्	= मैं	**भूतानि**	= समस्त प्राणियोंको	**सोमः**	= चन्द्रमा
च	= ही	**धारयामि**	= धारण करता हूँ	**भूत्वा**	= होकर
गाम्	= पृथ्वीमें	**च**	= और (मैं ही)	**सर्वाः**	= समस्त
आविश्य	= प्रविष्ट होकर	**रसात्मकः**	= रसस्वरूप	**औषधीः**	= ओषधियों (वनस्पतियों)-को
ओजसा	= अपनी शक्तिसे			**पुष्णामि**	= पुष्ट करता हूँ।

व्याख्या—'**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा**'—भगवान् ही पृथ्वीमें प्रवेश करके उसपर स्थित सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंको धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीमें जो धारण-शक्ति देखनेमें आती है, वह पृथ्वीकी अपनी न होकर भगवान्‌की ही है[1]।

वैज्ञानिक भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि पृथ्वीकी अपेक्षा जलका स्तर ऊँचा है और पृथ्वीपर जलका भाग स्थलकी अपेक्षा बहुत अधिक है[2]। ऐसा होनेपर भी पृथ्वी जलमग्न नहीं होती—यह भगवान्‌की धारण-शक्तिका ही प्रभाव है।

पृथ्वीके उपलक्षणसे यह समझना चाहिये कि पृथ्वीके सिवाय जहाँ भी धारण-शक्ति देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌की ही है। पृथ्वीमें अन्नादि ओषधियोंको उत्पन्न करनेकी (उत्पादिका) शक्ति एवं गुरुत्वाकर्षण-शक्ति भी भगवान्‌की ही समझनी चाहिये।

'**पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः**'—चन्द्रमामें दो शक्तियाँ हैं—प्रकाशिका-शक्ति और पोषण-शक्ति। प्रकाशिका शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन

१-(१) द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः। वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः॥
(महाभारत, अनु० १४९। १३४)

'स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रसहित आकाश, दस दिशाएँ, पृथ्वी और महासागर—ये सब भगवान् वासुदेवकी शक्तिसे धारण किये हुए हैं।'

(२) पृथिव्यां तिष्ठन् यो यमयति महीं वेद न धरा यमित्यादौ वेदो वदति जगतामीशममलम्।
नियन्तारं ध्येयं मुनिसुरनृणां मोक्षदमसौ शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥
(शङ्कराचार्यकृत कृष्णाष्टकम्)

'पृथ्वीमें रहकर जो पृथ्वीका नियमन करते हैं, परन्तु पृथ्वी जिनको नहीं जानती; 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथ्वीं यमयति यं पृथिवी न वेद' आदि श्रुतियोंसे वेद जिन अमलस्वरूपको जगत्‌का स्वामी, नियामक, ध्येय और देवता, मनुष्य तथा मुनिजनोंको मोक्ष देनेवाला बताता है, वे शरणागतवत्सल निखिल भुवनेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र मेरे नेत्रोंके विषय हों।'

२-पृथ्वीपर जलका कुल भाग लगभग इकहत्तर प्रतिशत और स्थलका कुल भाग लगभग उनतीस प्रतिशत माना जाता है।

पूर्वश्लोकमें करनेके बाद अब भगवान् इस श्लोकमें चन्द्रमाकी पोषण-शक्तिमें अपना प्रभाव बताते हैं कि चन्द्रमाके माध्यमसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंको मैं ही पुष्ट करता हूँ।

चन्द्रमा शुक्लपक्षमें पोषक और कृष्णपक्षमें शोषक होता है। शुक्लपक्षमें रसमय चन्द्रमाकी मधुर किरणोंसे अमृत-वर्षा होनेके कारण ही लता-वृक्षादि पुष्ट होते हैं और फलते-फूलते हैं। माताके उदरमें स्थित शिशु भी शुक्लपक्षमें वृद्धिको प्राप्त होता है।

यहाँ '**सोमः**' पद चन्द्रलोकका वाचक है, चन्द्रमण्डलका नहीं। नेत्रोंसे हमें जो दीखता है, वह चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमण्डलसे भी ऊपर (आँखोंसे न दीखनेवाला) चन्द्रलोक है। उपर्युक्त पदोंमें विशेषरूपसे '**सोमः**' पद देनेका अभिप्राय यह है कि चन्द्रमामें प्रकाशके साथ-साथ अमृत-वर्षाकी शक्ति भी है। वह अमृत पहले चन्द्रलोकसे चन्द्रमण्डलमें आता है और फिर चन्द्रमण्डलसे भूमण्डलपर आता है।

यहाँ '**औषधीः**' पदके अन्तर्गत गेहूँ, चना आदि सब प्रकारके अन्न समझने चाहिये। चन्द्रमाके द्वारा पुष्ट हुए अन्नका भोजन करनेसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी पुष्टि प्राप्त करते हैं। ओषधियों, वनस्पतियोंमें शरीरको पुष्ट करनेकी जो शक्ति है, वह चन्द्रमासे आती है। चन्द्रमाकी वह पोषण-शक्ति भी उसकी अपनी न होकर भगवान्‌की ही है। भगवान् ही चन्द्रमाको निमित्त बनाकर सबका पोषण करते हैं।

परिशिष्ट भाव—पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सब भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा श्लोक)। अतः इसके धारक, उत्पादक, पालक, संरक्षक, प्रकाशक आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे अपरा प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न है।

यहाँ 'सोम' शब्द चन्द्रलोकका वाचक है, जो सूर्यसे भी ऊपर है[1]।

सम्बन्ध—समष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बतानेके बाद अब भगवान् जिस शक्तिसे व्यष्टि-जगत्‌में क्रियाएँ हो रही हैं, उस व्यष्टि-शक्तिमें अपना प्रभाव बताते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

प्राणिनाम्	= प्राणियोंके	**प्राणापान-**		**भूत्वा**	= होकर
देहम्	= शरीरमें	**समायुक्तः**	= प्राण-अपानसे युक्त	**चतुर्विधम्**	= चार प्रकारके
आश्रितः	= रहनेवाला			**अन्नम्**	= अन्नको
अहम्	= मैं	**वैश्वानरः**	= वैश्वानर (जठराग्नि)	**पचामि**	= पचाता हूँ।

व्याख्या—'**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः**'—बारहवें श्लोकमें अग्निकी प्रकाशन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करनेके बाद भगवान् इस श्लोकमें वैश्वानररूप अग्निकी पाचन-शक्तिमें अपने प्रभावका वर्णन करते हैं[2]। तात्पर्य यह है कि अग्निके दोनों ही कार्य (प्रकाश करना और पचाना) भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं।

प्राणियोंके शरीरको पुष्ट करने तथा उनके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् ही वैश्वानर-(जठराग्नि-) के रूपसे उन प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं। मनुष्योंकी तरह लता, वृक्ष आदि स्थावर और पशु, पक्षी आदि जंगम प्राणियोंमें भी वैश्वानरकी पाचन-शक्ति काम करती है। लता, वृक्ष आदि जो खाद्य, जल ग्रहण करते हैं, पाचन-शक्तिके द्वारा उसका पाचन होनेके फलस्वरूप ही उन लता-वृक्षादिकी वृद्धि होती है।

'**प्राणापानसमायुक्तः**'—शरीरमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्रधान वायु एवं नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये पाँच उपप्रधान वायु रहती

१-न विदुः सोम ते मायां ये च नक्षत्रयोनयः। त्वमादित्यपथादूर्ध्वं ज्योतिषां चोपरिस्थितः॥

(पद्मपुराण, सृष्टि० ४१। १२८)

२-'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते।' (बृहदारण्यक० ५। ९। १)

'जो यह पुरुषके भीतर अग्नि है, यह वैश्वानर है, जिससे यह अन्न जो भक्षण किया जाता है, पचाया जाता है।'

हैं*। इस श्लोकमें भगवान् दो प्रधान वायु—प्राण और अपानका ही वर्णन करते हैं; क्योंकि ये दोनों वायु जठराग्निको प्रदीप्त करती हैं। जठराग्निसे पचे हुए भोजनके सूक्ष्म अंश या रसको शरीरके प्रत्येक अंगमें पहुँचानेका सूक्ष्म कार्य भी मुख्यतः प्राण और अपान वायुका ही है।

'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'—प्राणी चार प्रकारके अन्नका भोजन करते हैं—

(१) **भोज्य**—जो अन्न दाँतोंसे चबाकर खाया जाता है; जैसे—रोटी, पुआ आदि।

(२) **पेय**—जो अन्न निगला जाता है; जैसे खिचड़ी, हलवा, दूध, रस आदि।

(३) **चोष्य**—दाँतोंसे दबाकर जिस खाद्य पदार्थका रस चूसा जाता है और बचे हुए असार भागको थूक दिया जाता है; जैसे—ऊख, आम आदि। वृक्षादि स्थावर योनियाँ इसी प्रकारसे अन्नको ग्रहण करती हैं।

(४) **लेह्य**—जो अन्न जिह्वासे चाटा जाता है; जैसे—चटनी, शहद आदि।

अन्नके उपर्युक्त चार प्रकारोंमें भी एक-एकके अनेक भेद हैं। भगवान् कहते हैं कि उन चारों प्रकारके अन्नोंको वैश्वानर-(जठराग्नि-) रूपसे मैं ही पचाता हूँ। अन्नका ऐसा कोई अंश नहीं है, जो मेरी शक्तिके बिना पच सके।

परिशिष्ट भाव—पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करना, चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंका पोषण करना, फिर उनको खानेवाले प्राणियोंके भीतर जठराग्नि होकर खाये हुए अन्नको पचाना आदि सम्पूर्ण कार्य भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं। परन्तु मनुष्य उन कार्योंको अपने द्वारा किया जानेवाला मानकर मुफ्तमें ही अभिमान कर लेता है— **'अहं करोमीति वृथाभिमानः'**; जैसे बैलगाड़ीके नीचे छायामें चलनेवाला कुत्ता समझता है कि बैलगाड़ी मैं ही चलाता हूँ!

सम्बन्ध—पीछेके तीन श्लोकोंमें अपनी प्रभावयुक्त विभूतियोंका वर्णन करके अब उस विषयका उपसंहार करते हुए भगवान् सब प्रकारसे जाननेयोग्य तत्त्व स्वयंको बताते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

अहम्	= मैं	**ज्ञानम्**	= ज्ञान	**एव**	= ही
च	= ही	**च**	= और	**वेद्यः**	= जाननेयोग्य हूँ।
सर्वस्य	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**अपोहनम्**	= अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।	**वेदान्तकृत्**	= वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला
हृदि	= हृदयमें			**च**	= और
सन्निविष्टः	= स्थित हूँ	**सर्वैः**	= सम्पूर्ण	**वेदवित्**	= वेदोंको जाननेवाला
च	= तथा	**वेदैः**	= वेदोंके द्वारा	**एव**	= भी
मत्तः	= मुझसे (ही)	**अहम्**	= मैं	**अहम्**	= मैं (ही हूँ)।
स्मृतिः	= स्मृति,				

* इन दसों प्राणवायुके भिन्न-भिन्न कार्य इस प्रकार हैं—

(१) प्राण—इसका निवास-स्थान हृदय है। इसके कार्य हैं—श्वासको बाहर निकालना, खाये हुए अन्नको पचाना इत्यादि।

(२) अपान—इसका निवास-स्थान गुदा है। इसके कार्य हैं—श्वासको भीतर ले जाना, मल-मूत्रको बाहर निकालना, गर्भको बाहर निकालना इत्यादि।

(३) समान—इसका निवास-स्थान नाभि है। इसका कार्य है—पचे हुए भोजनके रसको सब अंगोंमें बाँटना।

(४) उदान—इसका निवास-स्थान कण्ठ है। जब भोजन करते हैं, तब उसके गाढ़े भाग और जल-भागको यह अलग-अलग करता है। सूक्ष्मशरीरको स्थूलशरीरसे बाहर निकालना तथा उसे दूसरे शरीर या लोकमें ले जाना भी इसीका कार्य है।

(५) व्यान—इसका निवास-स्थान सम्पूर्ण शरीर है। इसका कार्य है—शरीर तथा उसके अंगोंको सिकोड़ना या फैलाना।

(६) नाग—इसका कार्य है—डकार लेना।

व्याख्या—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**'*—पीछेके श्लोकोंमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि मैं स्वयं सब प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान हूँ। यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी स्थानोंमें भगवान् विद्यमान हैं, तथापि हृदयमें वे विशेषरूपसे विद्यमान हैं।

हृदय शरीरका प्रधान अंग है। सब प्रकारके भाव हृदयमें ही होते हैं। समस्त कर्मोंमें भाव ही प्रधान होता है। भावकी शुद्धिसे समस्त पदार्थ, क्रिया आदिकी शुद्धि हो जाती है। अतः महत्त्व भावका ही है, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदिका नहीं। वह भाव हृदयमें होनेसे हृदयकी बहुत महत्ता है। हृदय सत्त्वगुणका कार्य है, इसलिये भी भगवान् हृदयमें विशेषरूपसे रहते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मैं प्रत्येक मनुष्यके अत्यन्त नजदीक उसके हृदयमें रहता हूँ; अतः किसी भी साधकको (मेरेसे दूरी अथवा वियोगका अनुभव करते हुए भी) मेरी प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। इसलिये पापी-पुण्यात्मा, मूर्ख-पण्डित, निर्धन-धनवान्, रोगी-नीरोग आदि कोई भी स्त्री-पुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो, भगवत्प्राप्तिका वह पूरा अधिकारी है। आवश्यकता केवल भगवत्प्राप्तिकी ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलताकी है, जिसमें भगवत्प्राप्तिके बिना रहा न जाय।

परमात्मा सर्वव्यापी अर्थात् सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण होनेपर भी हृदयमें प्राप्त होते हैं। जैसे गायके सम्पूर्ण शरीरमें दूध व्याप्त होनेपर भी वह उसके स्तनोंसे ही प्राप्त होता है अथवा पृथ्वीमें सर्वत्र जल रहनेपर भी वह कुएँ आदिसे ही प्राप्त होता है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी, वैश्वानर आदि सबमें व्याप्त होनेपर भी परमात्मा 'हृदय' में प्राप्त होते हैं। (गीता—तेरहवें अध्यायका सत्रहवाँ और अठारहवें अध्यायका इकसठवाँ श्लोक)।

परमात्मप्राप्ति-सम्बन्धी विशेष बात

हृदयमें निरन्तर स्थित रहनेके कारण परमात्मा वास्तवमें मनुष्यमात्रको प्राप्त हैं; परन्तु जडता-(संसार-) से माने हुए सम्बन्धके कारण जडताकी तरफ ही दृष्टि रहनेसे नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त प्रतीत हो रहे हैं अर्थात् उनकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो रहा है। जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही सर्वत्र विद्यमान (नित्यप्राप्त) परमात्मतत्त्व स्वतः अनुभवमें आ जाता है।

परमात्मप्राप्तिके लिये जो सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन किया जाता है, उसमें जडता-(असत्-)का आश्रय रहता ही है। कारण है कि जडता-(स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर-) का आश्रय लिये बिना इनका होना सम्भव ही नहीं है। वास्तवमें इनकी सार्थकता जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें ही है। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होगा, जब ये (सत्-कर्म, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन) केवल संसारके हितके लिये ही किये जायँ, अपने लिये नहीं।

किसी विशेष साधन, गुण, योग्यता, लक्षण आदिके बदलेमें परमात्मप्राप्ति होगी—यह बिलकुल गलत धारणा है। किसी मूल्यके बदलेमें जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है—यह सिद्धान्त है। अतः यदि किसी विशेष साधन, योग्यता आदिके द्वारा ही परमात्म-प्राप्तिका होना माना जाय, तो परमात्मा उस साधन, योग्यता आदिसे कम मूल्यके (कमजोर) ही सिद्ध होते हैं, जबकि परमात्मा किसीसे कम मूल्यके नहीं हैं (गीता—ग्यारहवें अध्यायका तैंतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये वे किसी साधन आदिसे खरीदे नहीं जा सकते। इसके सिवाय अगर किसी

(७) कूर्म—इसका कार्य है—नेत्रोंको खोलना और बंद करना।

(८) कृकर—इसका कार्य है—छींकना।

(९) देवदत्त—इसका कार्य है—जम्हाई लेना।

(१०) धनंजय—यह मृत्युके बाद भी शरीरमें रहता है, जिससे मृतशरीर फूल जाया करता है। वास्तवमें एक ही प्राणवायुके भिन्न-भिन्न कार्योंके अनुसार उपर्युक्त भेद माने गये हैं।

*** द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

'सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा एवं परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किन्तु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।'

मूल्य-(साधन, योग्यता आदि-) के बदलेमें परमात्माकी प्राप्ति मानी जाय, तो उनसे हमें लाभ भी क्या होगा? क्योंकि उनसे अधिक मूल्यकी वस्तु (साधन आदि) तो हमारे पास पहलेसे है ही!

जैसे सांसारिक पदार्थ कर्मोंसे मिलते हैं, ऐसे परमात्माकी प्राप्ति कर्मोंसे नहीं होती; क्योंकि परमात्मप्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है। प्रत्येक कर्मकी उत्पत्ति अहंभावसे होती है और परमात्मप्राप्ति अहंभावके मिटनेपर होती है। कारण कि अहंभाव कृति (कर्म) है और परमात्मा कृतिरहित हैं। कृतिरहित तत्त्वको किसी कृतिसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है—'**नास्त्यकृतः कृतेन।**' (मुण्डक० १। २। १२) तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड-पदार्थोंके द्वारा नहीं, प्रत्युत जडताके त्यागसे होती है। जबतक मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, देश, काल, वस्तु आदिका आश्रय है, तबतक एक परमात्माका आश्रय नहीं हो सकता। मन, बुद्धि आदिके आश्रयसे परमात्मप्राप्ति होगी—यही साधककी मूल भूल है। अगर जडताका आश्रय और विश्वास छूट जाय तथा एकमात्र परमात्माका ही आश्रय और विश्वास हो जाय, तो परमात्मप्राप्तिमें देरी नहीं लग सकती।

'**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**'—किसी बातकी भूली हुई जानकारीका (किसी कारणसे) पुनः प्राप्त होना 'स्मृति' कहलाती है। स्मृति और चिन्तन—दोनोंमें फरक है। नयी बातका 'चिन्तन' और पुरानी बातकी 'स्मृति' होती है। अतः चिन्तन संसारका और स्मृति परमात्माकी होती है; क्योंकि संसार पहले नहीं था और परमात्मा पहले-(अनादिकाल-) से हैं। स्मृतिमें जो शक्ति है, वह चिन्तनमें नहीं है। स्मृतिमें कर्तापनका भाव कम रहता है, जबकि चिन्तनमें कर्तापनका भाव अधिक रहता है।

एक स्मृति की जाती है और एक स्मृति होती है। जो स्मृति की जाती है, वह 'बुद्धि'में और जो होती है, वह 'स्वयं'में होती है। होनेवाली स्मृति जडतासे तत्काल सम्बन्ध-विच्छेद करा देती है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि यह (होनेवाली) स्मृति मेरेसे ही होती है।

परमात्माका अंश होते हुए भी जीव भूलसे परमात्मासे विमुख हो जाता है और अपना सम्बन्ध संसारसे मानने लगता है। इस भूलका नाश होनेपर 'मैं भगवान्का ही हूँ, संसारका नहीं' ऐसा साक्षात् अनुभव हो जाना ही 'स्मृति' है (गीता—अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक)। स्मृतिमें कोई नया ज्ञान या अनुभव नहीं होता, प्रत्युत केवल विस्मृति-(मोह-) का नाश होता है। भगवान्से हमारा वास्तविक सम्बन्ध है। इस वास्तविकताका प्रकट होना ही स्मृतिका प्राप्त होना है।

जीवमें निष्कामभाव (कर्मयोग), स्वरूप-बोध (ज्ञान-योग) और भगवत्प्रेम (भक्तियोग)—तीनों स्वतः विद्यमान हैं। जीवको (अनादिकालसे) इनकी विस्मृति हो गयी है। एक बार इनकी स्मृति हो जानेपर फिर विस्मृति नहीं होती। कारण कि यह स्मृति 'स्वयं'में जाग्रत् होती है। 'बुद्धि'में होनेवाली लौकिक स्मृति (बुद्धिके क्षीण होनेपर) नष्ट भी हो सकती है, पर 'स्वयं' में होनेवाली स्मृति कभी नष्ट नहीं होती।

किसी विषयकी जानकारीको 'ज्ञान' कहते हैं। लौकिक और पारमार्थिक जितना भी ज्ञान है, वह सब ज्ञानस्वरूप परमात्माका आभास-मात्र है। अतः ज्ञानको भगवान् अपनेसे ही होनेवाला बताते हैं। वास्तवमें ज्ञान वही है, जो 'स्वयं' से जाना जाय। अनन्त, पूर्ण और नित्य होनेके कारण इस ज्ञानमें कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता। यद्यपि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'ज्ञान' कहलाता है, तथापि सीमित, अल्प (अपूर्ण) तथा परिवर्तनशील होनेके कारण इस ज्ञानमें सन्देह या भ्रम रहता है; जैसे-नेत्रोंसे देखनेपर सूर्य अत्यन्त बड़ा होते हुए भी (आकाशमें) छोटा-सा दीखता है इत्यादि। बुद्धिसे जिस बातको पहले ठीक समझते थे, बुद्धिके विकसित अथवा शुद्ध होनेपर वही बात गलत दीखने लग जाती है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान करण-सापेक्ष और अल्प होता है। अल्प ज्ञान ही 'अज्ञान' कहलाता है। इसके विपरीत 'स्वयं' का ज्ञान किसी करण-(इन्द्रिय, बुद्धि आदि-) की अपेक्षा नहीं रखता और वह सदा पूर्ण होता है। वास्तवमें इन्द्रिय और बुद्धि-जन्य ज्ञान भी 'स्वयं' के ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं अर्थात् सत्ता पाते हैं।

संशय, भ्रम, विपर्यय (विपरीत भाव), तर्क-वितर्क आदि दोषोंके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। भगवान् कहते हैं कि ये (संशय आदि) दोष भी मेरी कृपासे ही दूर होते हैं।

शास्त्रोंकी बातें सत्य हैं या असत्य? भगवान्को किसने देखा है? संसार ही सत्य है इत्यादि संशय और भ्रम भगवान्की कृपासे ही मिटते हैं। सांसारिक पदार्थोंमें अपना हित दीखना, उनकी प्राप्तिमें सुख दीखना, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाले संसारकी सत्ता दीखना आदि विपरीत भाव भी भगवान्की कृपासे ही दूर होते हैं। गीतोपदेशके अन्तमें

अर्जुन भी भगवान्‌की कृपासे ही अपने मोहका नाश, स्मृतिकी प्राप्ति और संशयका नाश होना स्वीकार करते हैं (अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक)।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'—यहाँ **'सर्वैः'** पद वेद एवं वेदानुकूल सम्पूर्ण शास्त्रोंका वाचक है। सम्पूर्ण शास्त्रोंका एकमात्र तात्पर्य परमात्माका वास्तविक ज्ञान कराने अथवा उनकी प्राप्ति करानेमें ही है।

यहाँ भगवान् यह बात स्पष्ट करते हैं कि वेदोंका वास्तविक तात्पर्य मेरी प्राप्ति करानेमें ही है, सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति करानेमें नहीं। श्रुतियोंमें सकामभावका विशेष वर्णन आनेका यह कारण भी है कि संसारमें सकाम मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है। इसलिये श्रुति (सबकी माता होनेसे) उनका भी पालन करती है।

जाननेयोग्य एकमात्र परमात्मा ही हैं, जिनको जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। परमात्माको जाने बिना संसारको कितना ही क्यों न जान लें, जानकारी कभी पूरी नहीं होती, सदा अधूरी ही रहती है*। अर्जुनमें भगवान्‌को जाननेकी विशेष जिज्ञासा थी। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं स्वयं तुम्हारे सामने बैठा हूँ।

'वेदान्तकृत्'—भगवान्‌से ही वेद प्रकट हुए हैं (गीता—तीसरे अध्यायका पन्द्रहवाँ और सत्रहवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। अतः वे ही वेदोंके अन्तिम सिद्धान्तको ठीक-ठीक बताकर वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका अच्छी तरह समन्वय कर सकते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि (वेदोंका पूर्ण वास्तविक ज्ञाता होनेके कारण) मैं ही वेदोंके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय करनेवाला हूँ।

'वेदविदेव चाहम्'—वेदोंके अर्थ, भाव आदिको भगवान् ही यथार्थरूपसे जानते हैं। वेदोंमें कौन-सी बात किस भाव या उद्देश्यसे कही गयी है; वेदोंका यथार्थ तात्पर्य क्या है इत्यादि बातें भगवान् ही पूर्णरूपसे जानते हैं; क्योंकि भगवान्‌से ही वेद प्रकट हुए हैं।

वेदोंमें भिन्न-भिन्न विषय होनेके कारण अच्छे-अच्छे विद्वान् भी एक निर्णय नहीं कर पाते (गीता—दूसरे अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक)। इसलिये वेदोंके यथार्थ ज्ञाता भगवान्‌का आश्रय लेनेसे ही वे वेदोंका तत्त्व जान सकते हैं और 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' से मुक्त हो सकते हैं।

इस (पंद्रहवें) अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने संसारवृक्षको तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यको 'वेदवित्' कहा था। अब इस श्लोकमें भगवान् स्वयंको 'वेदवित्' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संसारके यथार्थ तत्त्वको जान लेनेवाला महापुरुष भगवान्‌से अभिन्न हो जाता है। संसारके यथार्थ तत्त्वको जाननेका अभिप्राय है—'संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और परमात्माकी ही सत्ता है'—इस प्रकार जानते हुए संसारसे माने हुए सम्बन्धको छोड़कर अपना सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ना, संसारका आश्रय छोड़कर भगवान्‌के आश्रित हो जाना।

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके चार अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है—

सातवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक सृष्टिके प्रधान-प्रधान पदार्थोंमें कारणरूपसे सत्रह विभूतियोंका वर्णन करके भगवान्‌ने अपनी सर्वव्यापकता और सर्वरूपता सिद्ध की है।

नवें अध्यायमें सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक क्रिया, भाव, पदार्थ आदिमें कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियोंका वर्णन करके भगवान्‌ने अपनेको सर्वव्यापक बताया है।

दसवें अध्यायका तो नाम ही 'विभूतियोग' है। इस अध्यायमें चौथे और पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्राणियोंके भावोंके रूपमें बीस विभूतियोंका और छठे श्लोकमें व्यक्तियोंके रूपमें पचीस विभूतियोंका वर्णन किया है। फिर बीसवें श्लोकसे उनतालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बयासी प्रधान विभूतियोंका विशेषरूपसे वर्णन किया है।

इस पन्द्रहवें अध्यायमें बारहवें श्लोकसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने अपना प्रभाव बतलानेके लिये तेरह

*** सांगोपांगानपि यदि यश्च वेदानधीयते। वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥**

(महाभारत, शान्ति० ३१८।५०)

'सांगोपांग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।'

विभूतियोंका वर्णन किया है[१]।

उपर्युक्त चारों अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें विभूतियोंका वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि साधकको '**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९) 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस तत्त्वका अनुभव हो जाय। इसीलिये अपनी विभूतियोंका वर्णन करते समय भगवान्ने अपनी सर्वव्यापकताको ही विशेषरूपसे सिद्ध किया है; जैसे—

'**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति**' (७। ७)

'मेरेसे बढ़कर इस जगत्का दूसरा कोई भी महान् कारण नहीं है।'

'**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९)

'सत् और असत्—सब कुछ मैं ही हूँ।'

'**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**' (१०। ८)

'मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मेरेसे ही सब जगत् चेष्टा करता है।'

'**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।**' (१०। ३९)

'चर और अचर कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मेरेसे रहित हो अर्थात् चराचर सब प्राणी मेरे ही स्वरूप हैं।'

इसी प्रकार इस पन्द्रहवें अध्यायमें भी अपनी विभूतियोंके वर्णनका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

'**सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः**' (१५। १५)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हूँ।'

तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावान् हो रहे हैं। परमात्मासे अलग किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

प्रकाशके अभाव-(अन्धकार-)में कोई वस्तु दिखायी नहीं देती। आँखोंसे किसी वस्तुको देखनेपर पहले प्रकाश दीखता है, उसके बाद वस्तु दीखती है अर्थात् हरेक वस्तु प्रकाशके अन्तर्गत ही दीखती है; किन्तु हमारी दृष्टि प्रकाशपर न जाकर प्रकाशित होनेवाली वस्तुपर जाती है। इसी प्रकार यावन्मात्र वस्तु, क्रिया, भाव आदिका ज्ञान एक विलक्षण और अलुप्त प्रकाश—ज्ञानके अन्तर्गत होता है, जो सबका प्रकाशक और आधार है। प्रत्येक वस्तुसे पहले ज्ञान (स्वयंप्रकाश परमात्मतत्त्व) रहता है। अतः संसारमें परमात्माको व्याप्त कहनेपर भी वस्तुतः संसार बादमें है और उसका अधिष्ठान परमात्मतत्त्व पहले है अर्थात् पहले परमात्मतत्त्व दीखता है, बादमें संसार। परन्तु संसारमें राग होनेके कारण मनुष्यकी दृष्टि उसके प्रकाशक-(परमात्म-तत्त्व-) पर नहीं जाती।

परमात्माकी सत्ताके बिना संसारकी कोई सत्ता नहीं है। परन्तु परमात्मसत्ताकी तरफ दृष्टि न रहने तथा सांसारिक प्राणी-पदार्थोंमें राग या सुखासक्ति रहनेके कारण उन प्राणी-पदार्थोंकी पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता प्रतीत होने लगती है और परमात्माकी वास्तविक सत्ता (जो तत्त्वसे है) नहीं दीखती। यदि संसारमें राग या सुखासक्तिका सर्वथा अभाव हो जाय, तो तत्त्वसे एक परमात्मसत्ता ही दीखने या अनुभवमें आने लगती है। अतः विभूतियोंके वर्णनका तात्पर्य यही है कि किसी भी प्राणी-पदार्थकी तरफ दृष्टि जानेपर साधकको एकमात्र भगवान्की स्मृति होनी चाहिये अर्थात् उसे प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें भगवान्को ही देखना चाहिये (गीता—दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)।

वर्तमानमें समाजकी दशा बड़ी विचित्र है। प्रायः सब लोगोंके अन्तःकरणमें रुपयोंका बहुत ज्यादा महत्त्व हो गया है। रुपये खुद काममें नहीं आते, प्रत्युत उनसे खरीदी गयी वस्तुएँ ही काममें आती हैं; परन्तु लोगोंने रुपयोंके उपयोगको खास महत्त्व न देकर उनकी संख्याकी वृद्धिको ही ज्यादा महत्त्व दे दिया! इसलिये मनुष्यके पास जितने अधिक रुपये होते हैं, वह समाजमें अपनेको उतना ही अधिक बड़ा मान लेता है[२]। इस प्रकार रुपयोंको ही महत्त्व देनेवाला व्यक्ति परमात्माके महत्त्वको समझ ही नहीं सकता। फिर परमात्मप्राप्तिके बिना रहा न जाय—ऐसी लगन उस मनुष्यके भीतर उत्पन्न हो ही कैसे सकती है? जिसके भीतर यह बात बैठी हुई है कि रुपयोंके बिना रहा ही नहीं जा सकता अथवा रुपयोंके बिना काम ही नहीं चल सकता, उसकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि हो

१-इस अध्यायमें वर्णित तेरह विभूतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) सूर्यमें स्थित तेज, (२) चन्द्रमें स्थित तेज, (३) अग्निमें स्थित तेज, (४) पृथ्वीकी धारण-शक्ति, (५) चन्द्रकी पोषण-शक्ति, (६) वैश्वानर, (७) हृदयस्थित अन्तर्यामी, (८) स्मृति, (९) ज्ञान, (१०) अपोहन, (११) वेदोंद्वारा जाननेयोग्य, (१२) वेदान्तका कर्ता और (१३) वेदोंको जाननेवाला।

२-वस्तुतः रुपयोंकी संख्याके आधारपर अपनेको छोटा या बड़ा मानना पतनका चिह्न है। रुपयोंकी संख्या केवल अभिमान बढ़ानेके सिवाय और कुछ काम नहीं आती। अभिमान आसुरी सम्पत्तिका मूल है। जितने भी दुर्गुण-दुराचार, पाप हैं, सब अभिमानरूपी वृक्षकी छायामें रहते हैं।

ही नहीं सकती। वह यह बात समझ ही नहीं सकता कि रुपयोंके बिना भी अच्छी तरह काम चल सकता है।

जिस प्रकार व्यापारीको (एकमात्र धनप्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) माल लेने, माल देने आदि व्यापार-सम्बन्धी प्रत्येक क्रियामें धन ही दीखता है, इसी प्रकार परमात्मतत्त्वके जिज्ञासुको (एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रहनेपर) प्रत्येक वस्तु, क्रिया आदिमें तत्त्वरूपसे परमात्मा ही दीखते हैं। उसको ऐसा अनुभव हो जाता है कि परमात्माके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं, हो सकता ही नहीं।

मार्मिक बात

अर्जुनने चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय पूछा था। गुणोंके संगसे ही जीव संसारमें फँसता है। अतः गुणोंका संग मिटानेके लिये भगवान्‌ने यहाँ अपने प्रभावका वर्णन किया है। छोटे प्रभावको मिटानेके लिये बड़े प्रभावकी आवश्यकता होती है। अतः जबतक जीवपर गुणों-(संसार-) का प्रभाव है, तबतक भगवान्‌के प्रभावको जाननेकी बड़ी आवश्यकता है।

अपने प्रभावका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने (इस अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक) यह बताया कि मैं ही सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता हूँ; मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके सब प्राणियोंको धारण करता हूँ; मैं ही पृथ्वीपर अन्न उत्पन्न करके उसको पुष्ट करता हूँ; जब मनुष्य उस अन्नको खाता है, तब मैं ही वैश्वानररूपसे उस अन्नको पचाता हूँ और मनुष्यमें स्मृति, ज्ञान और अपोहन भी मैं ही करता हूँ। इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि आदिसे अन्ततक, समष्टिसे व्यष्टितककी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌के अन्तर्गत, उन्हींकी शक्तिसे हो रही हैं। मनुष्य अहंकारवश अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है अर्थात् उन क्रियाओंको व्यक्तिगत मान लेता है और बँध जाता है।

परिशिष्ट भाव—इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जो बात कही थी, उसका उपसंहार इस श्लोकमें करते हैं।

पहलेके तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने प्रभाव और क्रियारूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है, पर प्रस्तुत श्लोकमें स्वयं अपना वर्णन करते हैं। तात्पर्य है कि इस श्लोकमें स्वयं भगवान्‌का वर्णन है, आदित्यगत, चन्द्रगत, अग्निगत अथवा वैश्वानरगत भगवान्‌का वर्णन नहीं। मूलमें एक ही तत्त्व है, केवल वर्णनमें फर्क है।

पहले '**ममैवांशो जीवलोके**' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् 'अपने' हैं और यहाँ '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् 'अपनेमें' हैं। भगवान्‌को 'अपना' स्वीकार करनेसे उनमें स्वाभाविक प्रेम होगा और 'अपनेमें' स्वीकार करनेसे उनको पानेके लिये दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं रहेगी।

'**अपोहनम्**' पदका अर्थ है—'**अपगत ओहनम्**' अर्थात् संशयका निवारण। 'वेदान्त' का अर्थ है—वेदोंका अन्त अर्थात् निष्कर्ष, निचोड़—'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तः**' (गीता २। १६)

भगवान् कहते हैं कि वेद अनेक हैं, पर उन सबमें जाननेयोग्य मैं एक ही हूँ और उन सबको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने इसी अध्यायके पहले श्लोकसे पंद्रहवें श्लोकतक (तीन प्रकरणोंमें) क्रमशः संसार, जीवात्मा और परमात्माका विस्तारसे वर्णन किया। अब उस विषयका उपसंहार करते हुए आगेके दो श्लोकोंमें उन तीनोंका क्रमशः क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नामसे स्पष्ट वर्णन करते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

लोके	= इस संसारमें	**द्वौ**	= दो प्रकारके	**क्षरः**	= क्षर
क्षरः	= क्षर (नाशवान्)	**एव**	= ही	**च**	= और
च	= और	**पुरुषौ**	= पुरुष हैं।	**कूटस्थः**	= जीवात्मा
अक्षरः	= अक्षर (अविनाशी)—	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**अक्षरः**	= अक्षर
इमौ	= ये	**भूतानि**	= प्राणियोंके शरीर	**उच्यते**	= कहा जाता है।

व्याख्या—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**'—यहाँ '**लोके**' पदको सम्पूर्ण संसारका वाचक समझना चाहिये। इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें '**जीवलोके**' पद भी इसी अर्थमें आया है।

इस जगत्‌में दो विभाग जाननेमें आते हैं—शरीरादि नाशवान् पदार्थ (जड) और अविनाशी जीवात्मा (चेतन)। जैसे, विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक तो प्रत्यक्ष दीखनेवाला शरीर है और एक उसमें रहनेवाला जीवात्मा है। जीवात्माके रहनेसे ही प्राण कार्य करते हैं और शरीरका संचालन होता है। जीवात्माके साथ प्राणोंके निकलते ही शरीरका संचालन बंद हो जाता है और शरीर सड़ने लगता है। लोग उस शरीरको जला देते हैं। कारण कि महत्त्व नाशवान् शरीरका नहीं, प्रत्युत उसमें रहनेवाले अविनाशी जीवात्माका है।

पंचमहाभूतों-(आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-) से बने हुए शरीरादि जितने पदार्थ हैं, वे सभी जड और नाशवान् हैं। प्राणियोंके (प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाले) स्थूलशरीर स्थूल समष्टि-जगत्‌के साथ एक हैं; दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे युक्त सूक्ष्मशरीर सूक्ष्म समष्टि-जगत्‌के साथ एक हैं और कारण-शरीर (स्वभाव, कर्मसंस्कार, अज्ञान) कारण समष्टि-जगत्-(मूल प्रकृति-) के साथ एक हैं। ये सब क्षरणशील (नाशवान्) होनेके कारण 'क्षर' नामसे कहे गये हैं।

वास्तवमें 'व्यष्टि' नामसे कोई वस्तु है ही नहीं; केवल समष्टि-संसारके थोड़े अंशकी वस्तुको अपनी माननेके कारण उसको व्यष्टि कह देते हैं। संसारके साथ शरीर आदि वस्तुओंकी भिन्नता केवल (राग-ममता आदिके कारण) मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। मात्र पदार्थ और क्रियाएँ प्रकृतिकी ही हैं[1]। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरकी समस्त क्रियाएँ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण समष्टि-संसारके हितके लिये ही करनी हैं, अपने लिये नहीं।

जिस तत्त्वका कभी विनाश नहीं होता और जो सदा निर्विकार रहता है, उस जीवात्माका वाचक यहाँ '**अक्षरः**' पद है[2]। प्रकृति जड है और जीवात्मा (चेतन परमात्माका अंश होनेसे) चेतन है।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसका छेदन करनेके लिये कहा था, उस संसारको यहाँ '**क्षरः**' पदसे और सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपना अंश बताया था, उस जीवात्माको यहाँ '**अक्षरः**' पदसे कहा गया है।

यहाँ आये क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—ये तीनों ही शब्द गीतामें तीनों लिंगोंमें आये हैं[3]। इससे यह समझना चाहिये कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा न तो स्त्री हैं, न पुरुष हैं और न नपुंसक ही हैं। वास्तवमें लिंग भी शब्दकी

१-पदार्थों और क्रियाओंको संसारका मानना 'कर्मयोग', प्रकृतिका मानना 'ज्ञानयोग' और भगवान्‌का मानना 'भक्तियोग' है। इनको चाहे जिसका मानें, पर ये अपने नहीं हैं—यह तो मानना ही पड़ेगा।

२-गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इन तीनोंका एक साथ वर्णन भिन्न-भिन्न नामोंसे इस प्रकार हुआ है।

अध्याय-श्लोक	क्षर	अक्षर	पुरुषोत्तम
७। ४—६	अपरा प्रकृति	परा प्रकृति	अहम्
८। ३-४	अधिभूत; कर्म	अध्यात्म; अधिदैव	ब्रह्म; अधियज्ञ
१३। १-२	क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ	माम्
१४। ३-४	महद्ब्रह्म; योनि	गर्भ; बीज	अहम्; पिता

३-गीतामें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका वर्णन तीनों लिंगोंमें मिलता है। उदाहरणार्थ—

(१) क्षर—क्षरः (१५। १६)—पुँल्लिंग
अपरा (७। ५)—स्त्रीलिंग
महद्ब्रह्म (१४। ३-४)—नपुंसकलिंग

(२) अक्षर—जीवभूतः (१५। ७)—पुँल्लिंग
जीवभूताम् (७। ५)—स्त्रीलिंग
अध्यात्मम् (८। ३)—नपुंसकलिंग

(३) पुरुषोत्तम—भर्ता (९। १८)—पुँल्लिंग
गतिः (९। १८)—स्त्रीलिंग
शरणम् (९। १८)—नपुंसकलिंग

दृष्टिसे है, तत्त्वसे कोई लिंग नहीं है।

क्षर और अक्षर—दोनोंसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' नामकी सिद्धिके लिये यहाँ भगवान्‌ने क्षर और अक्षर—दोनोंको 'पुरुष' नामसे कहा है।

'क्षरः सर्वाणि भूतानि'—इसी अध्यायके आरम्भमें जिस संसारवृक्षका स्वरूप बताकर उसका छेदन करनेकी प्रेरणा की गयी थी, उसी संसारवृक्षको यहाँ 'क्षर' नामसे कहा गया है।

यहाँ **'भूतानि'** पद प्राणियोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंका ही वाचक समझना चाहिये। कारण कि यहाँ भूतोंको नाशवान् बताया गया है। प्राणियोंके शरीर ही नाशवान् होते हैं, प्राणी स्वयं नहीं। अतः यहाँ **'भूतानि'** पद जड शरीरोंके लिये ही आया है।

'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'—इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपना सनातन अंश बताया है, उसी जीवात्माको यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।

जीवात्मा चाहे जितने शरीर धारण करे, चाहे जितने लोकोंमें जाय, उसमें कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता; वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है (गीता—आठवें अध्यायका उन्नीसवाँ और तेरहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक)। इसीलिये यहाँ उसको 'कूटस्थ' कहा गया है।

गीतामें परमात्मा और जीवात्मा दोनोंके स्वरूपका वर्णन प्रायः समान ही मिलता है। जैसे परमात्माको (बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें) 'कूटस्थ' तथा (आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें) 'अक्षर' कहा गया है, ऐसे ही यहाँ (पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें) जीवात्माको भी 'कूटस्थ' और 'अक्षर' कहा गया है। जीवात्मा और परमात्मा—दोनोंमें ही परस्पर तात्त्विक एवं स्वरूपगत एकता है।

स्वरूपसे जीवात्मा सदा-सर्वदा निर्विकार ही है; परन्तु भूलसे प्रकृति और उसके कार्य शरीरादिसे अपनी एकता मान लेनेके कारण उसकी 'जीव' संज्ञा हो जाती है, नहीं तो (अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार) वह साक्षात् परमात्मतत्त्व ही है।

परिशिष्ट भाव—पहले छठे श्लोकमें और फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने 'अलौकिक तत्त्वका वर्णन किया कि स्वतन्त्र सत्ता अलौकिककी ही है, लौकिककी नहीं, लौकिककी सत्ता अलौकिकसे ही है। अलौकिकसे ही लौकिक प्रकाशित होता है। लौकिकमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब अलौकिकका ही है। अब सोलहवें श्लोकमें भगवान् **'लोके'** शब्दसे 'लौकिक तत्त्व' का वर्णन करते हैं।

जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों 'लौकिक' हैं—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** और भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् 'अलौकिक' हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो योगमार्ग भी 'लौकिक' हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा ....'** (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; परन्तु भक्तियोग 'अलौकिक' है, जो भगवान्‌को लेकर चलता है। सातवें अध्यायमें वर्णित 'अपरा प्रकृति' को यहाँ 'क्षर' नामसे और 'परा' प्रकृति' को यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तमः	= उत्तम	**यः**	= जो	**ईश्वरः**	= ईश्वर
पुरुषः	= पुरुष	**परमात्मा**	= 'परमात्मा'—	**लोकत्रयम्**	= तीनों लोकोंमें
तु	= तो	**इति**	= इस नामसे	**आविश्य**	= प्रविष्ट होकर (सबका)
अन्यः	= अन्य (विलक्षण) ही है,	**उदाहृतः**	= कहा गया है। (वही)	**बिभर्ति**	= भरण-पोषण करता है।
		अव्ययः	= अविनाशी		

व्याख्या—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'**—पूर्वश्लोकमें क्षर और अक्षर दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यह बताते हैं कि उन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है*।

*(१) द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५। १)

यहाँ '**अन्यः**' पद परमात्माको अविनाशी अक्षर-(जीवात्मा-) से भिन्न बतानेके लिये नहीं, प्रत्युत उससे विलक्षण बतानेके लिये आया है। इसीलिये भगवान्‌ने आगे अठारहवें श्लोकमें अपनेको नाशवान् क्षरसे 'अतीत' और अविनाशी अक्षरसे 'उत्तम' बताया है। परमात्माका अंश होते हुए भी जीवात्माकी दृष्टि या खिंचाव नाशवान् क्षरकी ओर हो रहा है। इसीलिये यहाँ भगवान्‌को उससे विलक्षण बताया गया है।

'**परमात्मेत्युदाहृतः**'—उस उत्तम पुरुषको ही 'परमात्मा' नामसे कहा जाता है। 'परमात्मा' शब्द निर्गुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—परम (श्रेष्ठ) आत्मा अथवा सम्पूर्ण जीवोंकी आत्मा। इस श्लोकमें 'परमात्मा' और 'ईश्वर'—दोनों शब्द आये हैं, जिसका तात्पर्य है कि निर्गुण और सगुण सब एक पुरुषोत्तम ही है।

'**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**'—वह उत्तम पुरुष (परमात्मा) तीनों लोकोंमें अर्थात् सर्वत्र समानरूपसे नित्य व्याप्त है।

यहाँ '**बिभर्ति**' पदका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंका भरण-पोषण करते हैं, पर जीवात्मा संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण भूलसे सांसारिक व्यक्तियों आदिको अपना मानकर उनके भरण-पोषणादिका भार अपने ऊपर ले लेता है। इससे वह व्यर्थ ही दुःख पाता रहता है[1]।

भगवान्‌को '**अव्ययः**' कहनेका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करते रहनेपर भी भगवान्‌का कोई व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् उनमें किसी तरहकी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती। वे सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

'**ईश्वरः**' शब्द सगुणका वाचक माना जाता है, जिसका अर्थ है—शासन करनेवाला।

मार्मिक बात

यद्यपि माता-पिता बालकका पालन-पोषण किया करते हैं, तथापि बालकको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि मेरा पालन-पोषण कौन करता है, कैसे करता है और किसलिये करता है? इसी तरह यद्यपि भगवान् मात्र प्राणियोंका पालन-पोषण करते हैं, तथापि अज्ञानी मनुष्यको (भगवान्‌पर दृष्टि न रहनेसे) इस बातका पता ही नहीं लगता कि मेरा पालन-पोषण कौन करता है। भगवान्‌का शरणागत भक्त ही इस बातको ठीक तरहसे जानता है कि एक भगवान् ही सबका सम्यक् प्रकारसे पालन-पोषण कर रहे हैं।

पालन-पोषण करनेमें भगवान् किसीके साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते। वे भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा, आस्तिक-नास्तिक आदि सभीका समानरूपसे पालन-पोषण करते हैं[2]। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि भगवान्‌द्वारा रचित सृष्टिमें सूर्य सबको समानरूपसे प्रकाश देता है, पृथ्वी सबको समानरूपसे धारण करती है, वैश्वानर-अग्नि सबके अन्नको समानरूपसे पचाती है, वायु सबको (श्वास लेनेके लिये) समानरूपसे प्राप्त होती है, अन्न-जल सबको समानरूपसे तृप्त करते हैं, इत्यादि।

'जिस ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ, छिपे हुए, असीम और परम अक्षर परमात्मामें विद्या और अविद्या दोनों स्थित हैं, वही ब्रह्म है। विनाशशील जडवर्ग तो अविद्या नामसे कहा गया है और अविनाशी जीवात्मा विद्या नामसे। जो इन विद्या और अविद्या दोनोंपर शासन करता है, वह परमेश्वर इन दोनोंसे भिन्न—सर्वथा विलक्षण है।'

(२) क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् १। १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसे भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों-(क्षर और अक्षर-) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

१-भरण-पोषणकी बात भक्तिमार्गमें ही आ सकती है, ज्ञानमार्गमें नहीं। कारण कि भक्तिमार्गमें जीव और परमात्मामें भिन्नता मानी जाती है। इसलिये इस प्रकरणको भक्तिका ही मानना चाहिये।

२-अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा। श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
अन्तःस्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः। खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥
(प्रबोधसुधाकर २५२-२५३)

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य?'

'यह अन्तरात्मा-रूपी महामेघ आन्तरिक भावोंका ही भोक्ता है। मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खदिर (खैर) है अथवा चम्पक (चम्पा)?'

परिशिष्ट भाव—पुरुषोत्तमको '**अन्य**' कहनेका तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर तो लौकिक हैं, पर पुरुषोत्तम दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं। अतः परमात्मा विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं। परमात्माके होनेमें भक्त, सन्त-महात्मा, वेद और शास्त्र ही प्रमाण हैं। '**अन्य**' का खुलासा भगवान्‌ने आगेके श्लोकमें किया है।

'**यो लोकत्रयमाविश्य**……'—इन पदोंमें बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतकका भाव आ गया है। मनुष्यका कर्तव्य तो मनुष्यलोकमें है, पर भगवान्‌का कर्तव्य तीनों लोकोंमें है। वास्तवमें भगवान्‌का अपना कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी वे केवल जीवोंके हितके लिये कर्तव्य करते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका बाईसवाँ, तेईसवाँ और चौबीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें वर्णित उत्तम पुरुषके साथ अपनी एकता बताकर अब साकाररूपसे प्रकट भगवान् श्रीकृष्ण अपना अत्यन्त गोपनीय रहस्य प्रकट करते हैं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

यस्मात्	= कारण कि	**अक्षरात्**	= अक्षरसे	**च**	= और
अहम्	= मैं	**अपि**	= भी	**वेदे**	= वेदमें
क्षरम्	= क्षरसे	**उत्तमः**	= उत्तम हूँ,	**पुरुषोत्तमः**	= 'पुरुषोत्तम' (नामसे)
अतीतः	= अतीत हूँ	**अतः**	= इसलिये	**प्रथितः**	= प्रसिद्ध
च	= और	**लोके**	= लोकमें	**अस्मि**	= हूँ।

व्याख्या—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**'—इन पदोंमें भगवान्‌का यह भाव है कि क्षर (प्रकृति) प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और मैं नित्य-निरन्तर निर्विकाररूपसे ज्यों-का-त्यों रहनेवाला हूँ। इसलिये मैं क्षरसे सर्वथा अतीत हूँ।

शरीरसे पर (व्यापक, श्रेष्ठ, प्रकाशक, सबल, सूक्ष्म) इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंसे पर मन है और मनसे पर बुद्धि है (गीता—तीसरे अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार एक-दूसरेसे पर होते हुए भी शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एक ही जातिके, जड हैं। परन्तु परमात्मतत्त्व इनसे भी अत्यन्त पर है; क्योंकि वह जड नहीं है, प्रत्युत चेतन है।

'**अक्षरादपि चोत्तमः**'—यद्यपि परमात्माका अंश होनेके कारण जीवात्मा-(अक्षर-) की परमात्मासे तात्त्विक एकता है, तथापि यहाँ भगवान् अपनेको जीवात्मासे भी उत्तम बताते हैं। इसके कारण ये हैं—(१) परमात्माका अंश होनेपर भी जीवात्मा क्षर-(जड प्रकृति-) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) और प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हो जाता है, जबकि परमात्मा (प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण) कभी मोहित नहीं होते (गीता—सातवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। (२) परमात्मा प्रकृतिको अपने अधीन करके लोकमें आते, अवतार लेते हैं (गीता—चौथे अध्यायका छठा श्लोक), जबकि जीवात्मा प्रकृतिके वशमें होकर लोकमें आता है (गीता—आठवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। (३) परमात्मा सदैव निर्लिप्त रहते हैं, (गीता—चौथे अध्यायका चौदहवाँ और नवें अध्यायका नवाँ श्लोक), जबकि जीवात्माको निर्लिप्त होनेके लिये साधन करना पड़ता है (गीता—चौथे अध्यायका अठारहवाँ और सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)।

भगवान्‌द्वारा अपनेको क्षरसे 'अतीत' और अक्षरसे 'उत्तम' बतानेसे यह भाव भी प्रकट होता है कि क्षर और अक्षर—दोनोंमें भिन्नता है। यदि उन दोनोंमें भिन्नता न होती, तो भगवान् अपनेको या तो उन दोनोंसे ही अतीत बताते या दोनोंसे ही उत्तम बताते। अतः यह सिद्ध होता है कि जैसे भगवान् क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हैं, ऐसे ही अक्षर भी क्षरसे अतीत और उत्तम है।

'**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः**'—यहाँ '**लोके**' पदका अर्थ है—पुराण, स्मृति आदि शास्त्र। शास्त्रोंमें भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं।

शुद्ध ज्ञानका नाम 'वेद' है, जो अनादि है। वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजुः आदि वेदोंके रूपसे प्रकट हुआ है। वेदोंमें भी भगवान् 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं।

पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि क्षर और अक्षर—दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है। वह उत्तम पुरुष कौन है—इसको बताते हुए भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि वह उत्तम पुरुष—'**पुरुषोत्तम**' मैं ही हूँ।

विशेष बात

(१) भौतिक सृष्टिमात्र 'क्षर' (नाशवान्) है और परमात्माका सनातन अंश जीवात्मा 'अक्षर' (अविनाशी) है। क्षरसे अतीत और उत्तम होनेपर भी अक्षरने क्षरसे अपना सम्बन्ध मान लिया—इससे बढ़कर और कोई दोष, भूल या गलती है ही नहीं। क्षरके साथ यह सम्बन्ध केवल माना हुआ है, वास्तवमें एक क्षण भी रहनेवाला नहीं है। जैसे बाल्यावस्थासे अबतक शरीर बिलकुल बदल गया, फिर भी हम कहते हैं कि 'मैं वही हूँ।' यह भी हम नहीं बता सकते कि अमुक दिन बाल्यावस्था खत्म हुई और युवावस्था शुरू हुई। कारण कि नदीके प्रवाहकी तरह शरीर निरन्तर ही बहता रहता है, जब कि अक्षर (जीवात्मा) नदीमें स्थित शिला-(चट्टान-) की तरह सदा अचल और असंग रहता है। यदि अक्षर भी क्षरकी तरह निरन्तर परिवर्तनशील और नाशवान् होता तो इसकी आफत मिट जाती। परन्तु स्वयं (अक्षर) अपरिवर्तनशील और अविनाशी होते हुए भी निरन्तर परिवर्तनशील और नाशवान् क्षरको पकड़ लेता है—उसको अपना मान लेता है। होता यह है कि अक्षर क्षरको छोड़ता नहीं और क्षर एक क्षण भी ठहरता नहीं। इस आफतको मिटानेका सुगम उपाय है—क्षर-(शरीरादि-) को क्षर-(संसार-) की ही सेवामें लगा दिया जाय—उसको संसाररूपी वाटिकाकी खाद बना दी जाय।

मनुष्यको शरीरादि नाशवान् पदार्थ अधिकार करने अथवा अपना माननेके लिये नहीं मिले हैं, प्रत्युत सेवा करनेके लिये ही मिले हैं। इन पदार्थोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेकी ही मनुष्यपर जिम्मेवारी है, अपना माननेकी बिलकुल जिम्मेवारी नहीं।

(२) पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने पहले क्षर—संसार-वृक्षका वर्णन किया। फिर उसका छेदन करके परम पुरुष परमात्माके शरण होने अर्थात् संसारसे अपनापन हटाकर एकमात्र परमात्माको अपना माननेकी प्रेरणा की। फिर अक्षर—जीवात्माको अपना सनातन अंश बताते हुए उसके स्वरूपका वर्णन किया। उसके बाद भगवान्‌ने (बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक) अपने प्रभावका वर्णन करते हुए बताया कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मेरा ही तेज है; मैं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे चराचर सब प्राणियोंको धारण करता हूँ; मैं ही अमृतमय चन्द्रके रूपसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ; वैश्वानर अग्निके रूपमें मैं ही प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर उनके द्वारा खाये हुए अन्नको पचाता हूँ; मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान हूँ; मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (भ्रम, संशय आदि दोषोंका नाश) होता है; वेदादि सब शास्त्रोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ; और वेदोंके अन्तिम सिद्धान्तका निर्णय करनेवाला तथा वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। इस प्रकार अपना प्रभाव प्रकट करनेके बाद इस श्लोकमें भगवान् यह गुह्यतम रहस्य प्रकट करते हैं कि जिसका यह सब प्रभाव है, वह (क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम) 'पुरुषोत्तम' मैं (साक्षात् साकाररूपसे प्रकट श्रीकृष्ण) ही हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनपर बहुत विशेष कृपा करके ही अपने रहस्यकी बात अपने मुखसे प्रकट की है; जैसे—कोई पिता अपने पुत्रके सामने अपनी गुप्त सम्पत्ति प्रकट कर दे अथवा कोई आदमी किसी भूले-भटके मनुष्यको अपना परिचय दे दे कि जिसके लिये तू भटक रहा है, वह मैं ही हूँ और तेरे सामने बैठा हूँ!

परिशिष्ट भाव—अपनी अलौकिकताकी तरफ दृष्टि करानेके लिये यहाँ भगवान्‌ने '**यस्मात्**' पद दिया है।

'**अक्षरादपि चोत्तमः**'—'अक्षर' शब्द जीवात्माके लिये भी आता है और ब्रह्मके लिये भी—'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (गीता ८। ३)। यह शब्द सब जगह चेतनका वाचक ही आता है, जड़का वाचक कहीं नहीं आता।

क्षर और अक्षरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता है। क्षर और अक्षर दोनों परमात्मामें ही रहते हैं। परन्तु अक्षर अर्थात् जीव क्षरके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसके अधीन हो जाता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। परमात्मा स्वतः असंग रहते हैं, वे क्षरके अधीन नहीं होते—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**'। इसलिये परमात्मा अक्षर (जीव) से भी उत्तम हैं। अगर जीव जगत्‌के साथ सम्बन्ध न जोड़कर उसके स्वामी परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़े तो वह परमात्मासे अभिन्न (आत्मीय) हो जायगा—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)।

मुक्तिमें तो अक्षर (स्वरूप)में स्थिति होती है, पर भक्तिमें अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है। स्वरूप अंश है, पुरुषोत्तम अंशी हैं।

सम्बन्ध—चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने जिस अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कही थी और जिसको प्राप्त करानेके लिये इस पन्द्रहवें अध्यायमें संसार, जीव और परमात्माका विस्तृत विवेचन किया गया, उसका अब आगेके श्लोकमें उपसंहार करते हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

भारत	= हे भरतवंशी अर्जुन!	**माम्**	= मुझे	**सर्वभावेन**	= सब प्रकारसे
एवम्	= इस प्रकार	**पुरुषोत्तमम्**	= पुरुषोत्तम	**माम्**	= मेरा ही
यः	= जो	**जानाति**	= जानता है,	**भजति**	= भजन करता है।
असम्मूढः	= मोहरहित मनुष्य	**सः**	= वह		
		सर्ववित्	= सर्वज्ञ		

व्याख्या—**'यो मामेवमसम्मूढः'**—जीवात्मा परमात्माका सनातन अंश है। अतः अपने अंशी परमात्माके वास्तविक सम्बन्ध-(जो सदासे ही है-) का अनुभव करना ही उसका असम्मूढ़ (मोहसे रहित) होना है।

संसार या परमात्माको तत्त्वसे जाननेमें मोह (मूढ़ता) ही बाधक है। किसी वस्तुकी वास्तविकताका ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस वस्तुसे राग या द्वेषपूर्वक माना गया कोई सम्बन्ध न हो। नाशवान् पदार्थोंसे राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध मानना ही मोह है।

संसारको तत्त्वसे जानते ही परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है और परमात्माको तत्त्वसे जानते ही संसारसे अपनी भिन्नताका अनुभव हो जाता है। तात्पर्य है कि संसारको तत्त्वसे जाननेसे संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और परमात्माको तत्त्वसे जाननेसे परमात्मासे वास्तविक सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

संसारसे अपना सम्बन्ध मानना ही भक्तिमें व्यभिचार-दोष है। इस व्यभिचार-दोषसे सर्वथा रहित होनेमें ही उपर्युक्त पदोंका भाव समझना चाहिये।

'जानाति पुरुषोत्तमम्'—जिसकी मूढ़ता सर्वथा नष्ट हो गयी है, वही मनुष्य भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जानता है।

क्षरसे सर्वथा अतीत पुरुषोत्तम-(परमपुरुष परमात्मा-) को ही सर्वोपरि मानकर उनके सम्मुख हो जाना, केवल उन्हींको अपना मान लेना ही भगवान्‌को यथार्थरूपसे 'पुरुषोत्तम' जानना है।

संसारमें जो कुछ भी प्रभाव देखने-सुननेमें आता है, वह सब एक भगवान्-(पुरुषोत्तम-) का ही है—ऐसा मान लेनेसे संसारका खिंचाव सर्वथा मिट जाता है। यदि संसारका थोड़ा-सा भी खिंचाव रहता है, तो यही समझना चाहिये कि अभी भगवान्‌को दृढ़तासे माना ही नहीं।

'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'—जो भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान लेता है और इस विषयमें जिसके अन्तःकरणमें कोई विकल्प, भ्रम या संशय नहीं रहता, उस मनुष्यके लिये जाननेयोग्य कोई तत्त्व शेष नहीं रहता। इसलिये भगवान् उसको 'सर्ववित्' कहते हैं*।

भगवान्‌को जाननेवाला व्यक्ति कितना ही कम पढ़ा-लिखा क्यों न हो, वह सब कुछ जाननेवाला है; क्योंकि उसने जाननेयोग्य तत्त्वको जान लिया। उसको और कुछ भी जानना शेष नहीं है।

जो मनुष्य भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान लेता है, उस 'सर्ववित्' मनुष्यकी पहचान यह है कि वह सब प्रकारसे स्वतः भगवान्‌का ही भजन करता है।

जब मनुष्य भगवान्‌को 'क्षरसे अतीत' जान लेता है, तब उसका मन (राग) क्षर-(संसार-) से हटकर भगवान्‌में लग जाता है और जब वह भगवान्‌को 'अक्षरसे

*** तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥ (प्रश्नोपनिषद् ४। ११)**

'हे सोम्य! उस अविनाशी परमात्माको जो कोई जान लेता है, वह सर्वज्ञ है। वह सर्वरूप परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाता है।'

उत्तम' जान लेता है, तब उसकी बुद्धि (श्रद्धा) भगवान्‌में लग जाती है*। फिर उसकी प्रत्येक वृत्ति और क्रियासे स्वत: भगवान्‌का भजन होता है। इस प्रकार सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन करना ही 'अव्यभिचारिणी भक्ति' है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सांसारिक पदार्थोंसे जबतक मनुष्य रागपूर्वक अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन नहीं कर सकता। कारण कि जहाँ राग होता है, वृत्ति स्वत: वहीं जाती है।

'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—इस वास्तविकताको दृढ़तापूर्वक मान लेनेसे स्वत: सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन होता है। फिर भक्तकी मात्र क्रियाएँ (सोना, जागना, बोलना, चलना, खाना-पीना आदि) भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं, अपने लिये नहीं।

ज्ञानमार्गमें 'जानना' और भक्तिमार्गमें 'मानना' मुख्य होता है। जिस बातमें किंचिन्मात्र भी सन्देह न हो, उसे दृढ़तापूर्वक 'मानना' ही भक्तिमार्गमें 'जानना' है। भगवान्‌को सर्वोपरि मान लेनेके बाद भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌का ही भजन करता है (गीता—दसवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)।

भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' (सर्वोपरि) माननेसे भी मनुष्य 'सर्ववित्' हो जाता है, फिर सब प्रकारसे भगवान्‌का भजन करते हुए भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' जान जाय—इसमें तो कहना ही क्या है!

परिशिष्ट भाव—'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्'—जो भगवान्‌को जानता है, वही वास्तवमें 'असम्मूढ़' है (गीता—दसवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। परन्तु जो भगवान्‌को नहीं जानता, वह 'मूढ़' है—'**अवजानन्ति मां मूढाः**' (गीता ९। ११)।

'**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**'—क्षर और अक्षर दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंग हैं; अत: इनको जाननेवाला मनुष्य सर्ववित् (सर्वज्ञ) नहीं होता। जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम पुरुषोत्तमको जानता है, वही मनुष्य 'सर्ववित्' अर्थात् समग्रको जाननेवाला है। ऐसा सर्ववित् भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा रहता है—'**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते**' (गीता ६। ३१); क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।

गीतामें 'सर्ववित्' शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। लौकिकके अन्तर्गत अलौकिक नहीं आ सकता, पर अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है। अत: निर्गुण तत्त्व (अक्षर) को जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी सर्ववित् नहीं होता, प्रत्युत समग्र भगवान्‌को जाननेवाला भक्त सर्ववित् होता है।

सम्बन्ध—'अरुन्धती-दर्शन-न्याय'-(स्थूलसे क्रमश: सूक्ष्मकी ओर जाने-) के अनुसार भगवान्‌ने इस अध्यायमें पहले 'क्षर' और फिर 'अक्षर' का विवेचन करनेके बाद अन्तमें 'पुरुषोत्तम' का वर्णन किया—अपने पुरुषोत्तमत्वको सिद्ध किया। ऐसा वर्णन करनेका तात्पर्य और प्रयोजन क्या है—इसको भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

अनघ	= हे निष्पाप अर्जुन!	**मया**	= मेरे द्वारा	**बुद्धिमान्**	= ज्ञानवान् (ज्ञात-ज्ञातव्य)
इति	= इस प्रकार	**उक्तम्**	= कहा गया है।	**च**	= (तथा प्राप्त-प्राप्तव्य) और
इदम्	= यह	**भारत**	= हे भरतवंशी अर्जुन!		
गुह्यतमम्	= अत्यन्त गोपनीय	**एतत्**	= इसको	**कृतकृत्यः**	= कृतकृत्य
शास्त्रम्	= शास्त्र	**बुद्ध्वा**	= जानकर (मनुष्य)	**स्यात्**	= हो जाता है।

*** किसी विशेष महत्त्वपूर्ण बातपर मन रागपूर्वक तथा बुद्धि श्रद्धापूर्वक लगती है।**

व्याख्या—**'अनघ'**—अर्जुनको निष्पाप इसलिये कहा गया है कि वे दोष-दृष्टि-(असूया-) से रहित थे। दोष-दृष्टि करना पाप है। इससे अन्तःकरण अशुद्ध होता है। जो दोष-दृष्टिसे रहित होता है, वही भक्तिका पात्र होता है।

गोपनीय बात दोष-दृष्टिसे रहित मनुष्यके सामने ही कही जाती है*। यदि दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने गोपनीय बात कह दी जाय, तो उस मनुष्यपर उस बातका उलटा असर पड़ता है अर्थात् वह उस गोपनीय बातका उलटा अर्थ लगाकर वक्तामें भी दोष देखने लगता है कि यह आत्मश्लाघी है; दूसरोंको मोहित करनेके लिये कहता है इत्यादि। इससे दोष-दृष्टिवाले मनुष्यकी बहुत हानि होती है।

दोष-दृष्टि होनेमें खास कारण है—अभिमान। मनुष्यमें जिस बातका अभिमान हो, उस बातकी उसमें कमी होती है। उस कमीको वह दूसरोंमें देखने लगता है। अपनेमें अच्छाईका अभिमान होनेसे दूसरोंमें बुराई दीखती है; और दूसरोंमें बुराई देखनेसे ही अपनेमें अच्छाईका अभिमान आता है।

यदि दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने भगवान् अपनेको सर्वोपरि 'पुरुषोत्तम' कहें, तो उसको विश्वास नहीं होगा, उलटे वह यह सोचेगा कि भगवान् आत्मश्लाघी (अपने मुँह अपनी बड़ाई करनेवाले) हैं—

'निज अग्यान राम पर धरहीं।'(मानस ७। ७३। ५)

भगवान्‌के प्रति दोष-दृष्टि होनेसे उसकी बहुत हानि होती है। इसलिये भगवान् और संतजन दोष-दृष्टिवाले अश्रद्धालु मनुष्यके सामने गोपनीय बातें प्रकट नहीं करते (गीता— अठारहवें अध्यायका सड़सठवाँ श्लोक)। वास्तवमें देखा जाय तो दोष-दृष्टिवाले मनुष्यके सामने गोपनीय (रहस्ययुक्त) बातें मुखसे निकलती ही नहीं!

अर्जुनके लिये **'अनघ'** सम्बोधन देनेमें यह भाव भी हो सकता है कि इस अध्यायमें भगवान्‌ने जो परमगोपनीय प्रभाव बताया है, वह अर्जुन-जैसे दोष-दृष्टिसे रहित सरल पुरुषके सम्मुख ही प्रकट किया जा सकता है।

'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदम्'—चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कहनेके बाद भगवान्‌ने पन्द्रहवें अध्यायके पहले श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक जिस (क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके) विषयका वर्णन किया है, उस विषयकी पूर्णता और लक्ष्यका निर्देश यहाँ **'इति इदम्'** पदोंसे किया गया है।

इस अध्यायमें पहले भगवान्‌ने क्षर (संसार) और अक्षर-(जीवात्मा-) का वर्णन करके अपना अप्रतिम प्रभाव (बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक) प्रकट किया। फिर भगवान्‌ने यह गोपनीय बात प्रकट की कि जिसका यह सब प्रभाव है, वह (क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम) 'पुरुषोत्तम' मैं ही हूँ।

नाटकमें स्वाँग धारण किये हुए मनुष्यकी तरह भगवान् इस पृथ्वीपर मनुष्यका स्वाँग धारण करके अवतरित होते हैं और ऐसा बर्ताव करते हैं कि अज्ञानी मनुष्य उनको नहीं जान पाते (गीता—सातवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)। स्वाँगमें अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया जाता, गुप्त रखा जाता है। परन्तु भगवान्‌ने इस अध्यायमें (अठारहवें श्लोकमें) अपना वास्तविक परिचय देकर अत्यन्त गोपनीय बात प्रकट कर दी कि मैं ही पुरुषोत्तम हूँ। इसलिये इस अध्यायको 'गुह्यतम' कहा गया है।

'शास्त्र' में प्रायः संसार, जीवात्मा और परमात्माका वर्णन आता है। इन तीनोंका ही वर्णन पंद्रहवें अध्यायमें हुआ है, इसलिये इस अध्यायको 'शास्त्र' भी कहा गया है।

सर्वशास्त्रमयी गीतामें केवल इसी अध्यायको 'शास्त्र' की उपाधि मिली है। इसमें 'पुरुषोत्तम' का वर्णन मुख्य होनेके कारण इस अध्यायको 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है। इस गुह्यतम शास्त्रमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके छः उपायोंका वर्णन किया है—

(१) संसारको तत्त्वसे जानना (पहला श्लोक)।

(२) संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करके एक भगवान्‌के शरण होना (तीसरा-चौथा श्लोक)।

(३) अपनेमें स्थित परमात्मतत्त्वको जानना (ग्यारहवाँ श्लोक)।

(४) वेदाध्ययनके द्वारा तत्त्वको जानना (पन्द्रहवाँ श्लोक)।

(५) भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानकर सब प्रकारसे उनका भजन करना (उन्नीसवाँ श्लोक)।

*** नवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्‌ने अर्जुनको दोष-दृष्टिसे रहित कहते हुए ही गुह्यतम ज्ञान बतानेकी प्रतिज्ञा की थी—'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।' इस पंद्रहवें अध्यायमें तो नवें अध्यायसे भी अधिक गोपनीय विषय बताया गया है। अतः यहाँ 'अनघ'का तात्पर्य 'अनसूया' मानना उचित ही है।**

(६) सम्पूर्ण अध्यायके तत्त्वको जानना (बीसवाँ श्लोक)।

जिस अध्यायमें भगवत्प्राप्तिके ऐसे सुगम उपाय बताये गये हों, उसको 'शास्त्र' कहना उचित ही है।

'मया उक्तम्'—इन पदोंसे भगवान् यह कहते हैं कि सम्पूर्ण भौतिक जगत्का प्रकाशक और अधिष्ठान, समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित, वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य एवं क्षर और अक्षर दोनोंसे उत्तम साक्षात् मुझ पुरुषोत्तमके द्वारा ही यह गुह्यतम शास्त्र अत्यन्त कृपापूर्वक कहा गया है। अपने विषयमें जैसा मैं कह सकता हूँ, वैसा कोई नहीं कह सकता। कारण कि दूसरा पहले (मेरी ही कृपाशक्तिसे) मेरेको जानेगा*, फिर वह मेरे विषयमें कुछ कहेगा, जबकि मेरेमें अनजानपना है ही नहीं।

वास्तवमें स्वयं भगवान्के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उनको पूर्णरूपसे नहीं जान सकता (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा और पन्द्रहवाँ श्लोक)। छठे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से कहा था कि आपके सिवाय दूसरा कोई भी मेरे संशयका छेदन नहीं कर सकता। यहाँ भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि मेरे द्वारा कहे हुए विषयमें किसी प्रकारका संशय रहनेकी सम्भावना ही नहीं है।

'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत'—पूरे अध्यायमें भगवान्ने जो संसारकी वास्तविकता, जीवात्माके स्वरूप और अपने अप्रतिम प्रभाव एवं गोपनीयताका वर्णन किया है, उसका (विशेषरूपसे उन्नीसवें श्लोकका) निर्देश यहाँ **'एतत्'** पदसे किया गया है। इस गुह्यतम शास्त्रको जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह ज्ञानवान् अर्थात् ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने जाननेयोग्य पुरुषोत्तमको जान लिया।

परमात्मतत्त्वको जाननेसे मनुष्यकी मूढ़ता नष्ट हो जाती है। परमात्मतत्त्वको जाने बिना लौकिक सम्पूर्ण विद्याएँ, भाषाएँ, कलाएँ आदि क्यों न जान ली जायँ, उनसे मूढ़ता नहीं मिटती; क्योंकि लौकिक सब विद्याएँ आरम्भ और समाप्त होनेवाली तथा अपूर्ण हैं। जितनी लौकिक विद्याएँ हैं, सब परमात्मासे ही प्रकट होनेवाली हैं; अतः वे परमात्माको कैसे प्रकाशित कर सकती हैं? इन सब लौकिक विद्याओंसे अनजान होते हुए भी जिसने परमात्माको जान लिया है, वही वास्तवमें ज्ञानवान् है।

उन्नीसवें श्लोकमें सब प्रकारसे भजन करनेवाले जिस मोहरहित भक्तको **'सर्ववित्'** कहा गया है, उसीको यहाँ **'बुद्धिमान्'** नामसे कहा गया है।

यहाँ **'च'** पदमें पूर्वश्लोकमें आयी बातके फल-(प्राप्त-प्राप्तव्यता-) का अनुकर्षण है। पूर्वश्लोकमें सर्वभावसे भगवान्का भजन करने अर्थात् अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात विशेषरूपसे आयी है। भक्तिके समान कोई लाभ नहीं है—**'लाभु कि किछु हरि भगति समाना'** (मानस ७। ११२। ४)। अतः जिसने भक्तिको प्राप्त कर लिया, वह प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

भगवत्तत्त्वकी यह विलक्षणता है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंमेंसे किसी एकको सिद्धिसे कृतकृत्यता, ज्ञात-ज्ञातव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता—तीनोंकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये जो भगवत्तत्त्वको जान लेता है, उसके लिये फिर कुछ जानना, पाना और करना शेष नहीं रहता। उसका मनुष्यजीवन सफल हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्ने इस अध्यायमें अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे अर्थात् अलौकिक समग्ररूपसे प्रकट किया है, इसलिये इसको 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है।

मनुष्य कर्मयोगसे कृतकृत्य, ज्ञानयोगसे ज्ञात-ज्ञातव्य और भक्तियोगसे प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है। मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। शरीर मेरा नहीं है, शरीरपर मेरा अधिकार नहीं है तथा शरीरसे मेरा सम्बन्ध नहीं है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। मेरेको कुछ नहीं चाहिये—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है। इस श्लोकमें आये **'बुद्धिमान्'** पदमें ज्ञात-ज्ञातव्य होनेका भाव आया है। पूर्वश्लोकमें **'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** पदोंमें प्राप्त-प्राप्तव्य होनेका भाव आया है। प्रस्तुत श्लोकमें आये **'च'** पदसे भी अनुक्त समुच्चय अर्थ—प्राप्त-प्राप्तव्य ले सकते हैं। लौकिक क्षर और अक्षर तो प्राप्त हैं; अतः अलौकिक

*** सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥**
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥ (मानस २। १२७। २)

परमात्मा ही प्राप्तव्य हैं। इस श्लोकसे यह भाव निकलता है कि भक्तको ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ज्ञात-ज्ञातव्य और कृतकृत्य भी हो जाता है (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ और दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १५॥

इस अध्यायमें कहे हुए विषयको यथार्थरूपसे समझ लेनेपर पुरुषोत्तम-(भगवान्-) के साथ नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' रखा गया है।

पंद्रहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ पंचदशोऽध्यायः**' के तीन, '**श्रीभगवानुवाच**' के दो, श्लोकोंके दो सौ अट्ठासी और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग तीन सौ छः है।

(२) '**अथ पंचदशोऽध्यायः**' के आठ, '**श्रीभगवानुवाच**' के सात, श्लोकोंके सात सौ एक और पुष्पिकाके छियालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग सात सौ बासठ है। इस अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और पंद्रहवाँ—ये चार श्लोक चौवालीस अक्षरोंके और तीसरा श्लोक पैंतालीस अक्षरोंका है। शेष पंद्रह श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें एक उवाच है—'**श्रीभगवानुवाच**।'

पंद्रहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे दूसरा, तीसरा और चौथा—ये तीन श्लोक '**उपजाति**' छन्दवाले हैं; और पाँचवाँ तथा पंद्रहवाँ—ये दो श्लोक '**इन्द्रवज्रा**' छन्दवाले हैं। बचे हुए पंद्रह श्लोकोंमेंसे—सातवें श्लोकके प्रथम और तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**जातिपक्ष-विपुला**'; नवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे '**र-विपुला**'; अठारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे '**म-विपुला**'; और उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष दस (१, ६, ८, १०—१४, १६-१७) श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

पन्द्रहवें अध्यायका सार

भगवान्ने सातवें अध्यायमें अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया था—अपरा और परा (७। ४-५)। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली 'अपरा प्रकृति' है और जिसने जगत्को धारण किया हुआ है, वह जीवरूप बनी हुई 'परा प्रकृति' है। अपरा और परा—दोनों ईश्वरकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव हैं। अपरा, परा और ईश्वर—इन तीनोंका विस्तारसे वर्णन भगवान् पन्द्रहवें अध्यायमें करते हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें पहले संसार-वृक्षके रूपमें 'अपरा' का वर्णन करते हैं, फिर सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अपने अंश-रूपसे 'पराका वर्णन करते हैं, फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक अपने प्रभावका वर्णन करते हैं। अन्तमें अपरा, परा और ईश्वर—तीनोंका क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नामसे वर्णन करके अध्यायका उपसंहार करते हैं।

सातवें अध्यायमें तो भगवान्ने अपरा और परा— दोनोंको अपनी प्रकृति अर्थात् अपनेसे अभिन्न बताया है—'**इतीयं मे**' (७। ४), '**मे पराम्**' (७। ५)। परन्तु पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें अपनेको अपरा (क्षर) से अतीत और परा (अक्षर) से उत्तम बताया है। इसका तात्पर्य है कि जबतक साधक अपरा (संसार) और परा (स्वयं)—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, तबतक भगवान् अपरासे अतीत और परासे उत्तम हैं। परन्तु जब उसकी मान्यतामें अपरा और पराकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब अपरा, परा और भगवान्—तीनों एक ही होते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

पन्द्रहवें अध्यायके मध्यमें अक्षर (जीवात्मा) के वर्णनका तात्पर्य है कि जीवके एक तरफ क्षर (संसार) है और एक तरफ पुरुषोत्तम (परमात्मा) हैं। जीवका सम्बन्ध परमात्माके साथ है—'**ममैवांशो जीवलोके**'; क्योंकि जैसे

परमात्मा चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील है। शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है—'**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**'; क्योंकि जैसे संसार जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है, ऐसे ही शरीर भी जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है। जीवको परमात्मासे कभी अलग नहीं कर सकते और शरीरको संसारसे कभी अलग नहीं कर सकते।

परमात्मा उसको कहते हैं, जो अभी हो, सबमें हो, सबका हो, सर्वसमर्थ हो, परम दयालु हो और अद्वितीय हो। अभी होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा नहीं करनी पड़ेगी। सबमें होनेसे वह अपनेमें भी है; अतः उनको ढूँढ़नेके लिये कहीं जाना नहीं पड़ेगा। सबका होनेसे वह अपना भी है; अतः उसमें स्वतः प्रेम होगा। सर्वसमर्थ होनेसे हमें भयभीत होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। परमदयालु होनेसे हमें निराश होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। अद्वितीय होनेसे हमें उसको पहचाननेकी, उसका वर्णन करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण यही है कि हम उसकी सत्ता और महत्ता स्वीकार नहीं करते और उसको अपना नहीं मानते। अगर हम उसकी सत्ता, महत्ता और अपनेपनको स्वीकार करते तो फिर वह हमें अप्राप्त नहीं लगता। वह हमें स्वतः प्यारा लगता; क्योंकि परमात्माको अपना माननेके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका और कोई उपाय है ही नहीं। प्रेम यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्मोंसे नहीं मिलता, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे मिलता है। भगवान्‌ने कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)। इसका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) ही अंश है, इसमें अन्य किसीका मिश्रण नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि केवल भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हमारा सम्बन्ध केवल भगवान्‌के ही साथ है। जब हम भगवान्‌के ही अंश हैं, तो फिर प्रकृतिका कार्य शरीर अपना कैसे हुआ? अतः भगवान् ही अपने हैं, दूसरा कोई भी अपना नहीं है। भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हम भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते, उनको छोड़ नहीं सकते। सर्वसमर्थ भगवान् भी जीवसे अलग नहीं हो सकते, जीवको छोड़ नहीं सकते। अगर भगवान् जीवको छोड़ दें तो जीव एक नया भगवान् हो जायगा अर्थात् भगवान् एक नहीं रहेंगे, प्रत्युत अनेक हो जायँगे, जो कभी सम्भव नहीं है। जिसको हम छोड़ नहीं सकते, उसके विषयमें यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वह कैसा है? अतः भगवान् कैसे हैं, क्या हैं, यह विचार न करके उनमें प्रेम करना चाहिये। जब मनुष्य संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है और जब परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब मुक्त होकर भक्त हो जाता है। मनुष्यसे सबसे बड़ी गलती यह होती है कि जो शरीर संसारका है, उसको अपना मान लेता है और जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको भूल जाता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है, तब उसके द्वारा स्वतः संसारकी 'सेवा' होती है। जब वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं, तब उसका स्वतः भगवान्‌में 'प्रेम' होता है। सेवाके बदलेमें साधकको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि संसारकी ही वस्तु संसारको दे दी तो अपना क्या खर्च हुआ? नया उद्योग क्या हुआ? प्रेमके बदलेमें भी उसको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि जो सदासे ही अपना है, उसमें प्रेमसे बढ़कर ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसकी उसको आवश्यकता हो। प्रभु मेरे लिये हैं, इसलिये अपनेको उनके अर्पित करना है, उनसे कुछ लेना नहीं है। उनसे कुछ चाहनेसे हम उनसे अलग हो जायँगे और अपनेको देनेसे उनसे अभिन्न हो जायँगे।

सेवासे मुक्ति होती है और प्रेमसे पराभक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिसे निरपेक्ष जीवनकी और भक्तिसे सरस जीवनकी प्राप्ति हो जाती है।